
Shri Dhishagita Bhashanuvada Hindi Translation

श्री धीशगीता भाषानुवाद

Document Information

Text title : shrIdhIshagItA Hindi translation

File name : shrIdhIshagItAHindi.itx

Category : giitaa, gItA, ganesha, upanishhat, hindi

Location : doc_giitaa

Proofread by : Paresch Panditrao

Description/comments : See the original Shri Dhishagita text/mUla

Acknowledge-Permission: Shri Bharat Dharma Mahamandal Varanasi

Latest update : November 29, 2022

Send corrections to : sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

Please help to maintain respect for volunteer spirit.

Please note that proofreading is done using Devanagari version and other language/scripts are generated using **sanscript**.

December 3, 2022

sanskritdocuments.org

श्री धीशगीता भाषानुवाद



॥ ॐ तत्सत् ॥

श्री धीशगीता भाषानुवाद ।

श्रीभारतधर्म मडामंडल के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित

काशी ।

संवत् २०४६

मूल्य ८ रूपया

प्रकाशक :-

श्रीभारतधर्म मडामंडल,

लडुराभीर, वाराणसी - २२१००१

संवत् २०४६

मकर संक्रांति सन् १९९०

भूमिका

श्रीभारतधर्म मडामंडल प्रधान कार्यालय काशी धाम के शास्त्रप्रकाश विभागद्वारा, अब तक अप्रकाशित पांथ गीताओं का, हिन्दी अनुवाद सखित प्रकाशन डोकर, हिन्दी साहित्य भंडार और साथ ही साथ, सनातन धर्म ग्रंथ-भंडार की श्री-वृद्धि हुई है । इससे पहले, सब प्रकार के गुरुभक्तों के लिखे श्री गुरुगीता, सब प्रकार के संन्यासी और साधु-संप्रदायों के लिखे श्री संन्यासगीता, सौर्य संप्रदाय के लिखे श्री सूर्यगीता, वैष्णव संप्रदाय के लिखे श्री विष्णुगीता, शाक्त संप्रदाय के लिखे श्री शक्तिगीता, गणपति संप्रदाय के लिखे श्री धीशगीता, हिन्दी अनुवाद सखित प्रकाशित की गई है । इसका द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में प्रस्तुत है । सर्वव्यापक, सर्वशुद्धितकारी और पृथ्वी के सब धर्मों के पितारूप, सनातन धर्म में, निर्गुण और सगुण, उपासनारूप से प्रधान, दो भेद हैं । यद्यपि लीलाविग्रह, अर्थात् अवतार उपासना, ऋषि देवता, पितृ-उपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियों की उपासनारूप से सनातन धर्म में सब अधिकार के उपासकवृन्दों के लिखे और भी कष्ट उपासनाशैलियों का विस्तृत

वर्णन पाया जाता है, परंतु लीलाविग्रह उपासना, अर्थात् अवतार उपासना तो पंच सगुण उपासना के अंतर्गत ही है ।

श्री विष्णु भगवान्, श्री सूर्य भगवान्, श्री भगवती देवी, श्री गणेश भगवान् और श्री सदाशिव भगवान् इन पंच सगुण उपास्य देवताओं में से सब के ही अवतारों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है; ज्योंकि सगुण उपासना की पूर्णता का, लीलामय स्वरूप के बिना, उपासक अनुभव नहीं कर सकता । अस्तु ! लीलाविग्रह की उपासना सगुण उपासना की पूर्णता के लिये ही होती है तथा ऋषिदेव, पितृ-उपासना और अन्य क्षुद्र उपासना का अधिकार सकाम राज्य से ही संबंध रहता है । निर्गुण उपासना में, सर्वसाधारण का अधिकार हो ही नहीं सकता । निर्गुण उपासना अरुण, भावतीत, वाक्, मन और बुद्धि से अगोचर आत्मस्वरूप की उपासना है । निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त, तत्त्वज्ञानी मंडापुत्रों, तथा ज्ञान-मुक्त संन्यासियों के लिये ही उपयोगी समझी जा सकती है, और केवल सगुण उपासना ही सब श्रेणी के उत्तम उपासक-वृद्धों के लिये हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियों ने उसके सिद्धांतों का अधिक प्रचार शास्त्रों में किया है ।

सृष्टि के स्वाभाविक पंच-तत्त्वों के अनुसार पंच विभागों पर संयम करके, पंच उपासक संप्रदायों के भेद की कल्पना करते हुए, पूर्वाचार्यों ने पंच सगुण उपासना-प्रणाली प्रचलित की है । विष्णु उपासकों के लिये वैष्णव संप्रदाय-प्रणाली, सूर्य उपासकों के लिये सौर्य संप्रदाय-प्रणाली, शक्ति उपासकों के लिये शक्ति संप्रदाय-प्रणाली, गणपति उपासकों के लिये गणपत्य संप्रदाय-प्रणाली और शिव उपासकों के लिये शैव संप्रदाय-प्रणाली, विस्तारित रूप से नाना शास्त्रों में उन्नोंने वर्णन की है । प्रत्येक उपासक-संप्रदाय के उपयोगी, अनेक आर्षसंहिताओं और अनेक तंत्र ग्रंथ आदि पाये जाते हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक संप्रदाय के उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं । उसी शैली के अनुसार प्रत्येक संप्रदाय के उपासक के लिये अपने-अपने संप्रदाय के पंचांग ग्रंथ हैं । अपने-अपने संप्रदाय के पंचांग ग्रंथों में से अपने-अपने संप्रदाय का गीताग्रंथ सबसे प्रधान माना गया है । विष्णु संप्रदाय की श्री विष्णुगीता, सूर्य संप्रदाय की श्री सूर्यगीता, देवी संप्रदाय की श्री शक्तिगीता, गणपति संप्रदाय की श्री धीशगीता और शिव संप्रदाय की श्री शंभुगीता, ये पांचों ग्रंथ अति अपूर्व उपनिषद् रूपी हैं । इन पांचों ग्रंथरत्नों का प्रकाशन अभी तक ठीक ठीक नहीं हुआ था ।

यदि देवीगीता, शिवगीता और गणेशगीता नाम से कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, तो वे असंपूर्ण दशा में प्रकाशित हुए हैं । श्री भारतधर्म मंडल के शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसंधान विभाग द्वारा पांचों ग्रंथरत्न अपने संपूर्ण आकार में प्राप्त हुए हैं । उन्हीं पांचों में से यह चौथी गीता अब प्रकाशित हो रही है । पांचवी शंभुगीता भी इसी प्रकार प्रकाशित हुई है । ये पांचों गीताओं वेदविज्ञान, सनातन धर्म के अपूर्व रहस्य, गंभीर अध्यात्म तत्त्व और पूज्यपाद महर्षियों के ज्ञान गरिमा के सिद्धांतों से परिपूर्ण हैं । इन पांचों के पाठ करने से, पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ कर सकते हैं । निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासना का रहस्य, सगुण उपासना का महत्त्व और विज्ञान, वेद के कर्मकांड, उपासनाकांड और ज्ञानकांड का मर्म, सनातन धर्म के सभी गंभीर सिद्धांतों का निर्णय, अध्यात्म-तत्त्व, अधिदैव-तत्त्व और अधिभूत तत्त्व, यहाँ तक कि वेद का सार, सब कुछ इन पंच गीताओं में प्राप्त होता है ।

ज्ञानकांड का विघ्न जिस प्रकार अडंकार है, उपासनाकांड का विघ्न जिस प्रकार साम्प्रदायिक विरोध है, उसी प्रकार कर्मकांड का विघ्न दंभ है । कर्मकांडी धनका पाठ करने से अपने दंभ को भूलकर, भक्त बन जायेंगे; उपासक-गण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोध को भूलकर उदार और पराभक्ति के अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानी के लिये तो ये पांशों ग्रंथ उपनिषदों के सार रूप हैं । गृहस्थों के लिये ये पांश गीताओं परम मंगलकर और सन्यासियों के अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक हैं !

श्रीकाशीधाम

मकरसंक्रान्ति संवत् २०४६ विक्रम

प्रजमोहन दीक्षित

अध्यक्ष - श्रीभारतधर्म मंडल, लडुराबीर, वाराणसी

विषयानुक्रमशिका ।

विषय

प्रथम अध्याय – स्वस्वरूपभावनिर्णय

सूतजी की प्रार्थना, व्यासजी की आज्ञा, ऋषियों की जिज्ञासा,
श्री गणपति की आज्ञा धृत्यादि ।

द्वितीय अध्याय – सिद्धिस्वरूपवर्णन

ऋषियों को सिद्धि के स्वरूप रक्ष्य की जिज्ञासा,
श्री गणपति की भगवत्सेवा में सदा रत रहने की आज्ञा ।

तृतीय अध्याय – ज्ञानभूमिनिर्णय

ऋषियों के द्वारा परा सिद्धि के दर्शन के उपायों की जिज्ञासा ।
श्री गणपति की आज्ञा – द्रिव्यदृष्टि से ज्ञानभूमियों में परासिद्धि का
उत्तरोत्तर स्पष्ट दर्शन होना आदि ।

चतुर्थ अध्याय – धर्मविज्ञाननिर्णय

ऋषियों को अज्ञानभूमियों के प्रभाव से बचाकर मुमुक्षु को
ज्ञानभूमियों में पहुँचाने के उपायों की जिज्ञासा । श्री गणपति की
आज्ञा, धर्म का महत्त्व-वर्णन । धर्म के साधारण और विशेष भेद,
साधारण धर्म के यौबीस तत्त्वों के अनु रूप यौबीस भेद ।

पंचम अध्याय – वेदांतनिर्णय

ऋषियों की वेदांत-विषयक जिज्ञासा । श्री गणपति की आज्ञा,
श्रवण मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता, स्वभावजनित
सहजकर्म और अविद्या के प्रभाव से श्रुतत्वका आविर्भाव ।

षष्ठ अध्याय – वेदांतनिर्घण

श्री गणपति की आज्ञा - सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि होने से मुक्ति, अविद्या
और माया उपाधि की भ्रान्ति दूर होने से ब्रह्मरूप का दर्शन और
उससे मुक्ति ।

सप्तम अध्याय – विराट्स्वरूपवर्णन

ऋषियों के द्वारा विराट्स्वरूप का वर्णन । व्यास की आज्ञा ।
श्री गणपति की आज्ञा ।

श्रीधीशगीता - भाषानुवाद ।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

१. स्वस्वरूपभावनिर्घणम्

सूतशु भोले ॥ १ ॥

हे वेदांत के तत्त्व जाननेवाले गुरो ! वेदार्थप्रतिपादक अनेक पुराण आपने कृपापूर्वक मुझे सुनाये हैं ॥ २ ॥
और हे देव ! उपनिषत्साररूप अनेक गीताओं भी कही हैं, जिससे मैं निसंदेह कृतकृत्य होगया हूँ ॥ ३ ॥
पूर्व कथाप्रसंग में मैंने आपसे सुना है कि जगज्जन्मादिकारण, जगत्कर्ता, जगद्भद्रता, जगत्पिता,
जगतत्पालक, श्रीभगवान्, बुद्धि के परे स्थित हैं और वे शरणागत-वत्सल कृपावश बुद्धि में अधिष्ठान करके
शुद्धों को मुक्ति प्रदान करते हैं । इस कारण उनको सब वेदोंने धीश कहा है ॥ ४ - ६ ॥ हे नाथ ! मैंने आपके
मुण्डकमल से यह भी सुना है कि पुरा-काल में, मलर्षिगण ने दिव्य धीशलोक में उपस्थित होकर श्री गणपतिदेव से
मुक्तिप्रद, उपनिषत्-साररूप, छित और शुभ अनेक उपदेशों को श्रवण किया था ॥ ७ - ८ ॥ अतः मेरे ऊपर
जो आपकी अपार कृपाराशि है, हे कृपासागर, आप उससे मुझे धीश और मलर्षि-संवादरूप ज्ञान और मुक्ति
देनेवाली श्रवणीय, अमृतरूप, पवित्र, दिव्य, धीशगीता को सुनाकर कृतकृत्य कीजिये ॥ ९ - १० ॥ हे प्रभो !
पुराकाल में मलर्षिगण किस कारण से धीशलोक में पहुँचे थे और वल धीशलोक कहाँ पर है, वहाँ किस प्रकार से
जाना होता है और वहाँ गणपति देव ने किन अध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया था, उन सबको विस्तारपूर्वक
सुनाकर मुझे कृतार्थ करें ॥ ११ - १२ ॥ जिससे मैं उन वेद-रहस्यों को मुमुक्षु व्यक्तियों के लिये जगत् में बारम्बार
प्रचारित करके निश्चय ही स्वयं धन्य होऊँ ॥ १३ ॥

व्यासञ्जु भोले ॥ १४ ॥

हे सूत ! तुम्हारी गुरु-भक्ति, जन्मसिद्ध धर्म-जिज्ञासा-प्रवृत्ति, और जगत्कल्याण में तत्पर सद्बुद्धि से, अ एवं सौम्य स्वभाव से, मैं अति-प्रसन्न हूँ । इसी कारण, हे तात, तुम जो जिज्ञासा करते हो और तुम जो शंका करते हो उसका समाधान करने से मैं अत्यंत आनंदित होता हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय शिष्य और अतिकृपापात्र हो ॥ १५ - १७ ॥ जिज्ञासु प्राणियों को निरंतर उपदेश प्रदान करना, मुमुक्षु-साधकों को तत्त्वज्ञानोपदेश करना, और ज्ञानमय वेदों का जगत् में प्रचार एवं उनका प्रकाश करना मेरे जिवन का प्रत है ॥ १८ - १९ ॥ हे सूत ! पुण्य वर्द्धक भगवत् भडिमा प्रचार में मेरी स्वाभाविक रुचि है और जगत् में भगवत्-भडिमा-प्रचार कार्य में तुम सहायक हो, इस कारण, मैं आनंदपूर्वक इस उत्तम प्रार्थना को पूर्ण करूंगा । समाहित मन, बुद्धियुक्त और श्रद्धान्वित होकर सुनो ॥ २० - २१ ॥ यह ब्रह्मांड सात उपर, और सात नीचे, इस प्रकार, यतुर्दश भुवनों में विभक्त है । छ-लीं चौदह भुवनों को पंडित गए सप्त अध्व-लोक और सप्त अधोलोक कहते हैं ॥ २२ - २३ ॥ उनमें से सप्त अधोलोक असुरों की स्वाभाविक आवास-भूमि है और सप्त अध्व-लोक देवभूमि है, अ एवं मृत्युलोक यतुर्दश भुवनों की मध्यसन्धि में स्थित होकर शोभायमान है जो मनुष्यों की आवासभूमि है ॥ २४ - २५ ॥ हे सूत, विद्वान् लोग उसको भूलोक भी कहते हैं ।

इसका पितृलोक, दैवीलोक है (अर्थात् इसके उपर) और मृत्युलोक (नीचे), पार्थिवलोक है ॥ २६ ॥ कभी देवासुर संग्राम होने पर इसका सामयिक रूपसे कहीं कहीं विपर्यय (अर्थात् रूपांतरण) भी होता है ॥ २७ ॥ हे सूत ! ऋषिगण अध्यात्मराज्य के संयालक हैं, इसलिये उनका गति यतुर्दश भुवनों में अबाधित है ॥ २८ ॥ परंतु उनका निवास स्थल सप्त अध्व-लोक है । ऋषियों की श्रेणियाँ अनेक हैं इस कारण अध्व-लोकों में उनके वास-स्थान के नाना भेद निरूपित हैं । जिस प्रकार सप्त अधोलोक असुरभाव प्रधान होने के कारण असुर-राज के द्वारा सर्वदा और सर्वथा नियमों से अनुशासित हैं, उस प्रकार, सप्त अध्व-लोकों में देवराज के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे देवलोक-समूह सत्त्वप्रधान है ॥ २९ - ३० ॥ वहाँ ऋषियों का समागम अत्यंत सुलभ है । अपुनरावृत्तिभाव को धारण करने वाला सत्यलोक तो सदा मुक्तात्मा, ब्रह्मसद्भावयुक्त, तपोनिष्ठात और योगाभ्यासपरायण ऋषियों से अत्यंतपूर्ण है ॥ ३३ - ३४ ॥

हे कुशाग्रबुद्धि सूत, सब सगुणलोकों से पुनरावृत्ति संभव है, इस कारण सब सगुण अध्व-लोक, तप और सत्यलोक की सन्धि में स्थित हैं, इसमें विस्मय नहीं ॥ ३५ - ३६ ॥ यथायोग्य अधिकार के ऋषि, अध्व-लोकों में ही यथास्थान निवास करते हैं ॥ ३७ ॥ हे सूत ! उनके सत्संग को प्राप्त होकर सब देवतागण उत्तम रीति से स्वधर्म का पालन करने में समर्थ होते हैं ॥ ३८ ॥ पुराकाल में ऐक समय, अनेक ऋषि ऐकत्रित होकर, अध्यात्म-तत्त्व-जिज्ञासा की सद्भासना से प्रेरित और ऐकाग्र-चित्त होकर, श्रद्धा, भक्तिभाव और ऐकतत्त्व से युक्त अ एवं शांत होकर, धीशलोक में पहुँचे ॥ ३९ - ४० ॥ उन्होंने वहाँ पहुँचकर उन सख्खिदानंदमय श्रीभगवान् गएपति देव से आदरपूर्वक प्रार्थना की ॥ ४१ ॥

ऋषिगण भोले ॥ ४२ ॥

हे जगन्मान्य ! हे सर्वज्ञ ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् धीश ! हमने पुराकाल में आपकी कृपा से वेदों को प्राप्त करके उनके अर्थानुसंधान में भी कृतकार्यता प्राप्त की है; परंतु हे प्रभो ! आपका यथार्थ स्वरूप हमें परिज्ञात न होने से हमारे चित्त में शांति प्राप्त नहीं हुई है । अब हम आपके लोक में उपस्थित होकर आपके शरणागत हुआ हूँ । कृपया आप अपने स्वरूप का ज्ञान हमें प्रदान कीजिये और तत्त्वज्ञानों का वल अमृतरूपी ज्ञान-सार सुनाइये, जो उपनिषद्ग्रन्थों से भी अधिक विभूति-निःश्रेयसप्रद हो, और जो हमें चिरस्थायी शांति और ब्रह्मानन्द-प्रदानकारी हो ॥ ४३ - ४७ ॥

श्री गणपति भोले ॥ ४८ ॥

हे विप्रो ! मैं अपनी सप्त-ज्ञानभूमियों के ऊपर सच्चिदानंदरूप से अविनाशी होकर भलीभांति विराजमान हूँ ॥ ४८ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरे विष्णु होने पर भी अहो (अर्थात् मलदशाश्रय है) ! भावुक भक्तगण अपनी धृष्टता के अनुसार नानारूप में मेरा दर्शन पाते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥ ५० ॥ हे विप्रों ! मैं उपरहित हूँ तथापि मेरे श्रद्धावान् भक्तगण मेरे स्थूल रूप, अथवा ज्योतीरूप का दर्शन करके आनंदित और कृतकृत्य होते हैं इसमें विचार (अर्थात् संदेह) की कोई बात नहीं है । इस स्थूल-प्रपंचमय-विषय से परे, इन्द्रियों हैं, इन्द्रियों से परे सब तन्मात्राएँ हैं, तन्मात्राओं से परे वृत्तियाँ हैं, वृत्तियों से परे भाव है, भाव से भी परे महत् है, और महत् से परे मेरा दर्शन, मेरे तत्त्वचिन्तक-योगनिष्णात-ज्ञानी भक्त, (नित्य रूप से) करते हैं । इस परम रूप को जानकर आप लोग चिरकाल तक शांति प्राप्त करें ॥ ५१ - ५५ ॥ हे महर्षियों ! मैं ही सत्-रूप हूँ, मैं ही चित्-रूप भी हूँ और मैं ही आनंदरूप हूँ इसमें संदेह नहीं । मैं विष्णु, निर्विकार, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, द्वैतहीन और निश्चय ही ज्ञानस्वरूप हूँ ॥ ५६ - ५७ ॥

हे महर्षिगण ! मेरी मूल प्रकृति, स्वरूप-अवस्था में मुझमें ही लीन रहकर, अद्वैतभाव को उत्पन्न करती है ॥ ५८ ॥ किंतु हे विप्रो ! वल व्युत्थान दशा में (अर्थात् प्रतिभासिक रूप से मेरे विपरीत दशा में) अपने त्रिगुणात्मक रूप को धारण करके, दृश्य प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और लय-क्रिया को, मेरी आज्ञा के वशवर्तिनी होकर (अर्थात् वशानुसार होकर) सदा (दृश्यमान) करती रहती है । हे ब्राह्मणों ! मेरी प्रकृति के सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण, मेरे सच्चिदानंदमय त्रिभावों से जाने जाते हैं । मैं ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावों से प्रकट होकर अपने ज्ञानी भक्तों को निश्चय ही शीघ्र तत्त्वज्ञान प्रदान करता हूँ, इसमें संदेह नहीं ॥ ५८ - ६२ ॥ तब मेरे ज्ञानी भक्त त्रिभाव की सहायता से ही मेरी अघटनघटनापटीयसी (वल पर्दा जिस पर कारणरहित घटना निर्मित होती हो, येतना के क्षेत्र में होनेवाला घटना-क्रम, “अपटी” अर्थात् पर्दा) त्रिगुणमयी प्रकृति का यथार्थरूप में दर्शन करके अंत में मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ६३ - ६४ ॥

मेरे स्वरूपज्ञान की प्राप्ति के लिये, सब प्रकार से उत्तम, त्रिभावात्मक-अद्भुत-तटस्थ ज्ञान ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ ६५ ॥ मेरी कारण-दशा में सत्, चित् और आनंदरूप तीनों भाव, निःसंदेह अद्वैतरूप में ही रहते हैं ॥ ६६ ॥ मेरी ही प्रकृति से उत्पन्न कार्यब्रह्म के सभी अंगो-उपांगों में, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी तीनों पृथक् जगत्तों को मैं प्रकाशित करता हूँ ॥ ६७ - ६८ ॥ इस जगत् में औसा स्थान नहीं जो त्रिभाव से व्याप्त न हो ।

मेरे ज्ञानी भक्त जो ब्रह्म, ईश और विराट् रूप में मेरा दर्शन करके भक्तिसागर में उन्मज्जन (मज्जन - गोता लगाना) और निमज्जन करते हैं, वहाँ भी नित्य भावत्रय को ही कारण जानो ॥ ६८ - ७० ॥ जो मन और वाणी के अगोचर कहे गये हैं, वे ब्रह्म हैं । उनको सबका कारण और सबका अध्यात्म जानो ॥ ७१ ॥ अनादि, अनंत, अजन्मा, दिव्य, अजर, अमर, नाशरहित, अनूद्य (अर्थात् निष्कर्ष/बुद्धि द्वारा जिन के अस्तित्व का पता लगाया नहीं जा सकता) और अज्ञेय ब्रह्म प्रथम हैं ॥ ७२ ॥

अपनी छ्छाड़पिणी माया से जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के कारण हैं, वे ईश्वर हैं । वे ईश्वर-तत्त्व “अधिदैव” कहलाते हैं ॥ ७३ ॥ वे सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अंतर्धामी, कृपासागर, सब सद्गुणों के साररूप, दोष-शून्य पुरुषोत्तम हैं ॥ ७४ ॥ और जो विश्व के निधान (अर्थत् संग्रह), प्राकृतात्मक, स्थूलतर और विराट् रूप कार्यब्रह्म हैं, वे “अधिभूत” कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥ अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप-भावत्रय संबंधी उत्तमतत्त्व, मैं आप लोगों से फिर से कहता हूँ, सुनो ॥ ७६ ॥ हे ब्राह्मणों ! अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव जिस प्रकार कारण में हैं, उसी प्रकार वे कार्य में अवश्य हैं ॥ ७७ ॥ उनका विस्तार से स्वरूप मैं कहता हूँ, सुनो । हे मर्षियों ! मैं ही अपनी उन मडामाया का उत्तमता से आश्रय करके अध्यात्मभाव से ऋषि, अधिदैव भाव से देवता और अधिभूत भाव से पितृरूप धारण करता हूँ और अनेक ब्रह्मांडसमूहों का सर्वदा संरक्षण करता हूँ ॥ ७८ - ८० ॥ पंच मडामूर्तों में प्रथम भूत आकाश है । वहाँ श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशाओं अधिदैव कही गइ हैं ॥ ८१ ॥ द्वितीय भूत वायु है । वहाँ त्वक् अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और विद्युत् अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८२ ॥

तृतीय भूत ज्योति अर्थात् अग्नि है । वहाँ यक्ष अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८३ ॥ चतुर्थ भूत जल है । वहाँ जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और सोम अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८४ ॥ पंचमभूत पृथिवी है । वहाँ घ्राण (अर्थात् नाक) अध्यात्म, गंध अधिभूत और वायु अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८५ ॥ तत्त्वदर्शा ब्राह्मण कहते हैं कि पाद (अर्थात् पैर) अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और वहाँ विषणु अधिदैव हैं ॥ ८६ ॥ निम्न गतिशील अपान (अर्थात् बडिर्गामी श्वास) है, वहाँ पायु (अर्थात् नितम्बद्वार) अध्यात्म, विसर्ग अधिभूत और मित्र अधिदैव है ॥ ८७ ॥ सब ज्यों का उत्पादक-उपस्थ (अर्थात् शिश्न) अध्यात्म है, शुक्र अधिभूत और प्रजापति अधिदैव हैं ॥ ८८ ॥ अध्यात्म शास्त्र के पंडितगण दोनो ढाणों को अध्यात्म कहते हैं, कर्म अधिभूत और शक (अर्थात् छन्द) वहाँ अधिदैव है ॥ ८९ ॥

विश्वेदेवा से उत्पन्न प्रथम वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत और वहाँ वह्नि (अर्थात् अग्नि) अधिदैव है ॥ ९० ॥ समस्त संसार का कर्ता अहंकार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत और रुद्र वहाँ अधिदैव है ॥ ९१ ॥ यथार्थ देवनेवाले विद्मद्गण बुद्धि को अध्यात्म, ज्ञेय को अधिभूत और क्षेत्रज्ञ को अधिदैव कहते हैं ॥ ९२ ॥ पंचभूतों से आत्मा को आवृत्त करनेवाला मन अध्यात्म है, संकल्प अधिभूत और चंद्रमा अधिदैव है ॥ ९३ ॥ वेद को निःसंदेह मेरा शब्दमय स्वरूप जानना चाहिये । वेदविद्मद्म कहते हैं कि वहाँ श्रुतियाँ अधिभूत, ईश्वर अधिदैव और ज्ञान अध्यात्म है । हे विप्रो ! मेरी शक्ति ही सरस्वती, गायत्री और सावित्री ये तीनों रूप धारण करके वेदों में ज्ञान-शक्ति क्रिया-शक्ति और यज्ञ-शक्ति इन तीन शक्तियों को उत्पन्न करती है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो, इसमें

कुछ सहेड नही ॥ ८४ - ८७ ॥ वेद और वेद-संमत शास्त्र अेक ही हैं, इस कारए उन वेद-संमत शास्त्रों में भी त्रिभाषों का निःसहेड अैसा ही सादृश्य है ॥ ८८ ॥ अंतःकरए ही बंध और मोक्ष का कारए है । वहाँ मन, बुद्धि, चित और अलंकार ये चारों ही अधिभूत हैं, ब्रह्मा अधिदैव और मेरा आनंदविलास अध्यात्म कडा जाता है ॥ ८९ - १०० ॥

जगद्धारक धर्म का अधिभूत कर्म हैं, अधिदैव उपासना और अध्यात्म ज्ञानकांड है ॥ १०१ ॥ हे ब्राह्मणों, सब धर्मांगों में से प्रत्येक धर्मांग के साथ भी, भावत्रय का संबंध है, इसमें कुछ संशय नहीं ॥ १०२ ॥ हे ब्राह्मणों, वेद ही मेरी आज्ञा का प्रकाशक है और वेदसंमत शास्त्र-समूह उसकी व्याख्यारूप है ॥ १०२ ॥ इस कारए वेद और वेद-संमत शास्त्रों में मैं ही समाधि-भाषा, लौकिक-भाषा और परकीय-भाषा रूप से त्रिविधभाषों को धारए करके निरंतर प्रकाशित हूँ । सब विद्याओं का अधिभूत, शास्त्र है, अधिदैव ऋषि हैं और अध्यात्म वेद कडा गया है । हे मधर्षिणए, सृष्टि का अधिभूत पिंड सृष्टि ही है, अधिदैव ब्रह्मांड-सृष्टि ही है और अध्यात्म मेरे चित और सत् भाव में आनंद का नित्य विलास कडा गया है, जो अनंत-कोटि ब्रह्मांडों का कारए हैं । हे मधर्षिणए, प्रलय का पिंड-प्रलय अधिभूत है, जिसको अज्ञ-लोग ज़ुवों का रोमांचकारी मृत्यु कडते हैं, अधिदैव ब्रह्मांड-प्रलय है और अध्यात्म-प्रलय ज़ुवों के मत्-सायुज्य प्राप्त होने को कडते हैं । हे विज्ञो, पाश अर्थात् आवरण ही ज़ुवों के बंधन का कारए कडा जाता है, जिसका पंचकोष अधिभूत है, अविद्या अधिदैव है, और मेरी सत्-सत्ता अध्यात्म है ॥ १०४ - १११ ॥

हे विज्ञ ब्राह्मणों, सृष्टि के सामंजस्य की रक्षा के लिअे जो देवासुर संग्राम हुआ करता है, वड भी त्रिभाव से पूर्ण है यड निःसहेड है । धर्माधर्म वृत्तियों का जो अंतःकरए में नित्य अदभुत द्रन्ध्र युद्ध होता है वडी उसका अध्यात्म है ॥ ११२ - ११४ ॥ हे ब्राह्मणों, देवलोक के नैमित्तिक (क्षणिक) देवासुर संग्राम ही अधिदैव हैं और सत्यलोक में दैवी और आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव से जो परस्पर मडा-संग्राम होता है वडी उसका अधिभूत है यड निश्चय है । हे विप्रो, मेरी ही प्रकृति मेरे ही आश्रय से निरंतर सृष्टि-प्रपंच प्रकट करती है इस कारए मेरी प्रकृति के तीन गुण बंधन के डेतु डोते हैं ॥ ११५ - ११८ ॥ परंतु जो मेरे तीनों भाषों का आश्रय ग्रडए करके मेरी प्रकृति को डेभते हैं, वे प्रकृति के तीनों गुणों से कभी बंधन-कृत नहीं डोते ॥ ११९ ॥

हे विप्रो, मेरे और अपने उडाडरण को लेकर, मेरी यड प्रकृति अपार संसार में स्त्री-धारा और पुरुष-धारा को उत्पन्न करके जगत् को परिव्याप्त करती है । इस कारए इन डीनों धाराओं में, बंधन दशा और मुक्त दशा, अरिथार्थ के विचार से, निश्चय ही त्रिभाव के डो भेड हैं । हे मधर्षिणए, सृष्टि-दशा में, स्त्री और पुरुष में क्षेत्र और बीज अधिभूत, पितृगण अधिदैव और वहाँ भूतभावोद्भावकर विसर्गरूपी कर्म (अर्थात् जो कर्म घटनाओं को निर्मित करता है) अध्यात्म कडा जाता है इसमें कुछ सहेड नहीं और मुक्ति-दशा में स्त्री और पुरुष में मेरी प्रकृति और मेरा विंगरूप अधिभूत, मेरा सत् और चिद्भाव अधिदैव और वहाँ निःसहेड परमानन्द ही अध्यात्म है ॥ १२० - १२५ ॥ हे ब्राह्मणों, मैं इसी प्रकार से सब देश, काल और पात्रों में त्रिभावों से दर्शन डेकर प्रकृति के बंधन से अपने ज्ञानी भक्तों को निश्चय ही बयाया करता हूँ इसमें सहेड नहीं ! हे ब्राह्मणश्रेष्ठो, मैंने आप लोगों से यड गूढ रहस्य कडा है ॥ १२६ - १२७ ॥

मेरे तीन भावों के शुद्ध भावमय वायक, पूर्ण-शक्ति-प्रकाशक-मंत्र “ॐ तत् सत्”, के निरंतर जप और उसके अर्थों की भावना (के चिंतन) द्वारा ज्ञान-निष्ठात और मंत्र-तत्त्व-परायाण, मेरे भक्तों को अविभक्त-ज्ञानपूर्णा अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है । हे मહर्षियों, मेरे ही सत्, चित् और आनंद भावों को आश्रय करके, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिभाव, संपूर्ण कार्य-ब्रह्म में प्रकट हैं ॥ १२८ - १३१ ॥ इस कारण त्रिभाव से रहित कोई दृश्य हो ही नहीं सकता । मेरे ज्ञानी भक्त, जब ज्ञान-योग की अंतिम-स्थलरूपा-भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त करके, मेरे दर्शन करने में समर्थ होते हैं, तब वे सब, देश और काल (स्पेस्-टाईम) में मेरे त्रिभाव का अनुभव करते दुःखे, निःसंदिह मद्गतचित्त हो जाते हैं । उस समय अघटनघटनापटीयसी, त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति-देवी सत्त्व, रज और तमरूपी तीनों गुणों से मेरे भक्तों को बंधन करने में असमर्थ हो जाती है । मेरी प्रकृति ही विधातृपि धारण करके ज्ञानी भक्तों को मत्-सायुज्य प्राप्त कराती है, इसमें संदिह नहीं ॥ १३२ - १३६ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीश गीतोषपनिषद् के ब्रह्मविद्या संबंधि धीशर्षि संवादात्मक योग-शास्त्र का स्वस्वरूप-भाव निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

२. सिद्धिस्वरूपवर्णन

॥ महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे कृपानिधि ! आपके लोकोत्तर-दिव्य और तत्त्वातीत-परमतत्त्वरूपी स्वरूप को यथार्थरूप और भलीभाँति जानकर, और संपूर्ण दृश्य-प्रपंचसमूह में परिव्याप्त आपके त्रिभावात्मक स्वरूप का परम अद्भुत रहस्य सुनकर हम निःसंदिह कृतकृत्य दुःखे हैं, परंतु हमारे हृदय में अक और मलत् कौतूहल (आश्चर्य) उत्पन्न हुआ है ॥ २ - ४ ॥ हम देख रहे हैं कि सप्त ज्ञानभूमि के उपर सुरभ्य कमल पर आप सुषुप्तपूर्वक आसीन हैं ॥ ५ ॥ हे सर्वात्मन् ! हे विभो ! हे सर्वज्ञ धीश ! जिस पर आप बैठे दुःखे हैं, उस कमल का सौंदर्य वाङ्, मन और बुद्धि से अतीत है ॥ ६ ॥ हे प्रभो धीश ! आपके शरीर का वर्ण रक्त होने पर भी वह रक्त आदि सब रंगों से अतीत होकर हमारी रूप-दर्शन-तृष्णा को इस समय भलीभाँति तृप्त कर रहा है । आप यतुर्भुज होकर अपने यक्ष, पद्म, त्रिशूल और मोहकतृपि दिव्यास्त्रों से विभूषित इन धात्यों से, अभ्युद्य और निःश्रेयस प्रदान करने के विभे मानों हमें नित्य आशान्वित कर रहे हैं ॥ ७ - ९ ॥

आप गजवदन होकर हमारी बुद्धि को समाहित कर रहे हैं । आपने पड़ले जो हमें उपदेश दिया है उसके द्वारा हम आपके स्वरूप के रहस्य को तो यत्किञ्चित् समझने में समर्थ दुःखे हैं परंतु आपके वाम-अंक-वर्तिनी शंभ, यक्ष, शक्ति और पद्म से अति विभूषित यतुर्भुजा लोहितवर्णांगी और शक्ति-शालिनी षोडशी-जगत्-मोहिनी जिस देवी को हम लोग देखते हैं, उनके स्वरूप का रहस्य अभी तक हमारे समझ में नहीं आया, इसलिये कृपा करके समझाएँ वे कौन हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? और उनका विस्तारित रहस्य क्या है ? सो विस्तार पूर्वक वर्णन करके हमें कृतकृत्य कीजिये ॥ १० - १४ ॥

गणपति बोले ॥ १५ ॥

मेरे सब कार्यों में सहायिका ये देवी, मेरी ही शक्ति है, जिनको वेदज्ञ ब्राह्मण गण, “सिद्धि” नाम से अभिहित (अंग्रेजी अर्थ label/appellation) करते हैं ॥ १६ ॥ हे विप्रवृन्द ! मेरी त्रिगुणशोभित प्रकृति ही सिद्धिरूप धारण करके सदा मेरी सेवा में अति प्रसन्न होकर रत रहती हुई, निरंतर मेरा आश्रय करके, शोभायमान है । पूर्ण अवयव-सुशोभित चोडशी, सर्व सौंदर्यसमन्विता, मनोहारिणी, शंभु-यक्ष-शक्ति, पद्मधारिणी, शक्तिरूपिणी, सिद्धि किसी समय भी मेरी सेवा से व्युत् (अर्थात् छूटना या विमोचित होना) नहीं होती है ॥ १७ - १८ ॥ यद्यपि मैं इसकी सेवा ग्रहण करने में निरपेक्ष रहता हूँ, तो भी यह चतुर्विध रूप धारण करके मेरी सेवा की इच्छा करती है ॥ २० ॥ इसी कारण हे ब्राह्मण श्रेष्ठो ! इस सिद्धि के चार भेद हैं यथा — अधिभूत-सिद्धि, अधिदैव-सिद्धि, अध्यात्म-सिद्धि और सलज-सिद्धि ॥ २१ ॥ जिस प्रकार चित् के साथ ऐश्वर्य का संबंध है, सत् के साथ बल का, शक्ति के साथ कर्म का और तेज के साथ रूप का संबंध है, उसी प्रकार मेरे साथ सिद्धि का नित्य संबंध है । यह संबंध अलौकिक है, इसमें विचार न करना ॥ २२ - २३ ॥

हे विज्ञो ! जिस प्रकार विष्णु को लक्ष्मी प्रिय है, शंभु को श्यामा प्रिय है और ब्रह्मरूपिणी महाशक्ति को स्वकार्य ब्रह्म का सिद्ध-विलासरूप भाव प्रिय है, अतः जिस प्रकार सूर्यदेव को अरुण (सूर्यदेव के सारथी) प्रिय है, उसी प्रकार हे महर्षिगण, मुझे यह सिद्धि प्रिय है, परंतु निर्लिप्त, निर्विकार और ज्ञान-स्वरूप मुझे, सिद्धि अपने प्रेम के आवरण से कंसा नहीं सकती । हे महर्षिगण ! इस प्रकार का सिद्धि के साथ मेरा अलौकिक संबंध है ॥ २४ - २७ ॥ जगत् में जो मंत्र-सिद्धि, तप-सिद्धि और योग-सिद्धि, प्रकार की नानाविध सिद्धियाँ प्रचलित हैं, अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ हैं, अथवा मेधा, प्रतिभा आदि जैव सिद्धियाँ प्रचलित हैं, या जगत् में जो औषधि-सिद्धि, रसायन-सिद्धि और पदार्थ-सिद्धि नाम से प्रचलित हैं, जो धन-सिद्धि, बल-सिद्धि, पुरुषार्थ-सिद्धि, संमोहित करने की सिद्धि आदि प्रचलित है, वेद तथा नानाशास्त्र के प्रकाश की जो नाना ज्ञान-संबंधीय सिद्धियाँ हैं, वे सब मेरी सिद्धि की ही अंगभूत हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ २८ - ३२ ॥

हे विप्रो ! जन्म, पद, औषधि, मंत्र, उपासना, तप, संयम और समाधि के द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३३ ॥ सिद्धिबाल के लिये ये ही आठ उपाय प्रधान हैं । जाति-स्मरत्व आदि सिद्धियाँ जन्म-सिद्धियाँ हैं ॥ ३४ ॥ सिद्ध-गुटिका, काया-कल्प, रसायन और इस प्रकार की अन्य सिद्धियाँ, औषधि सिद्धियाँ कलवाती हैं ॥ ३५ ॥ राजशक्ति, नैमित्तिक-देवशक्ति और इस प्रकार की अन्य सब शक्तियाँ, पद-सिद्धियाँ कलवाती हैं ॥ ३६ ॥ देवदर्शनादि उपासना सिद्धियाँ कलवाती हैं, जिनके प्राप्त होने पर अवश्य ही अभ्युदय होता है ॥ ३७ ॥ वशीकरणदि षट्कर्म, तथा इस प्रकार की और सिद्धियाँ, मंत्रसिद्धि के अंतर्गत हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ ३८ ॥ तप, संयम और समाधि द्वारा दैवी या लौकिक, ऐसी को ही सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके ॥ ३९ ॥ हे विप्रो ! इन आठ उपायों के द्वारा चतुर्विध सिद्धियाँ निश्चय प्राप्त हुआ करती हैं, इसमें विचार न करो ॥ ४० ॥ संसार में मेरी शक्ति से उत्पन्न जो अनंत प्रकार की सिद्धियाँ हैं, वे सब मेरे द्वारा पहले से ही चार श्रेणियों में विभक्त हैं और इनकी प्राप्ति के लिये ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं, हे ब्राह्मणो ! उन्हीं के द्वारा वे अवश्य प्राप्त होती हैं ॥ ४१ - ४२ ॥

हे विप्रो ! सभ लौकिक-कार्यकारिणी सिद्धियों को आधिभौतिक सिद्धियाँ, दैव-कार्यकारिणी सिद्धियों को अधिदैविक सिद्धियाँ, और ज्ञान-विज्ञान प्रकाशक सिद्धियों को संसार में बुधगाण, अध्यात्मिक-सिद्धियाँ कहते हैं ॥ ४३ - ४५ ॥ मंत्रद्रष्टि इसी सिद्धि के अंतर्गत हैं हे विप्रश्रेष्ठों, इसमें विस्मय न करो ॥ ४६ ॥ परंतु हे विज्ञावरों ! सज्ज नाम्नी जो सिद्धि है वह इन सभ सिद्धियों से अत्यंत अलौकिक है ॥ ४७ ॥ मेरे अवतारों में इस सज्ज सिद्धि का स्वतः ही अत्यंत विकाश (दिग्मान) होता है । जब तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश के द्वारा अपने श्रवणमात्र को नाश करके शिवस्वरूप होकर निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए, साधक मुझमें लीन होते हैं तब उनमें मेरी धृष्टा से कभी-कभी सज्ज सिद्धि का विकाश हुआ करता है ॥ ४८ - ५० ॥ हे ब्राह्मणों ! यद्यपि उग्रश्रेणी की सज्ज सिद्धियाँ अनेक हैं तब भी उनमें से केवल तैत्तिरीय ही मुख्य हैं ॥ ५१ ॥ अवतारों में, योगियों में और श्रवण-मुक्त महापुरुषों तथा तपस्वियों में तैत्तिरीय प्रकार की सिद्धियाँ प्रकट होती हैं ॥ पर ॥ हे ब्राह्मणों ! उनके पवित्र नामों का वर्णन अब आपके समीप करता हूँ । उनको सावधान होकर सुनो ॥ ५३ ॥ अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, धृष्टित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयाधित्व, अभीष्टित सर्वज्ञत्व, वह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, शिरश्रवित्व, वायुस्तम्भ, क्षत्-स्तम्भ (मृत्यु, विदारण स्तम्भ), पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाङ्-सिद्धि, धृष्टित्तमृतानयन, सृष्टिकर्तृत्व, संसारकर्तृत्व, प्राणाकर्षण, प्राणप्रदान, लोभादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन, कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसंधान, ये सभ सिद्धियाँ वेद और शास्त्रों में वर्णित हैं ॥ ५४ - ५५ ॥

मेरी अघटनघटनापटीयसी, जगद्धिमोहिनी प्रकृति, जिसका दूसरा नाम महामाया है, वही तपस्वियों को, योगियों को, और अऽऽज्ञानियों को, नाना सिद्धियों के द्वारा निरंतर विमोहित करके मुक्तिमार्ग में अऽऽन्यन बनती हुई अपने विवासस्वरूप में, इस आवागमन चक्र में चारों ओर वारंवार घुमाया करती है ॥ ६० - ६२ ॥ परंतु हे ब्राह्मणों ! महामायानाम्नी वह मेरी प्रकृति, मेरे ज्ञानी भक्तों को कदापि विमोहित नहीं कर सकती ॥ ६३ ॥ मेरे ज्ञानी भक्तों का सिद्धियों को प्रकाश करना, सती-कुल-कामिनियों के अंग दिग्मान के समान होता है ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार कोई भी कुलकामिनियाँ कदापि किन्हीं परपुरुषों को अपने अंगों को नहीं दिये सकती परंतु निर्लज्जा, कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ समाज में अपने अंगों को दियाने के लिये जिस प्रकार उत्कृष्टित रहती हैं, उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगाण सर्व-समर्थ होने पर भी अपनी सिद्धि को कदापि प्रकट नहीं करते । किंतु हे ब्राह्मणों ! लक्ष्यहीन तपस्वी, भक्तिहीन योगी और ज्ञानहीन उग्रकर्मा-साधक, वशिष्-वृत्ति (अर्थात् अनिया-वृत्ति) से अपनी सिद्धियों को प्रकट करके अत्यंत पतित होते हैं; इसलिये महात्माओं को सर्वथा, सिद्धियाँ प्रकाशित नहीं करनी चाहिये ॥ ६५ - ६६ ॥ जिस प्रकार भ्राता, पुत्र, आत्मीय और स्वजन अनिच्छा से कभी-कभी कुलकामिनी का अंग-दर्शन दैवात् कर लेते हैं, उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तों का सिद्धिवैभव दैवात् कभी-कभी जगत में उदात्त प्रकाशित हो पऽऽता है ॥ ७० - ७१ ॥

हे विप्रो ! मेरी सिद्धि जिस प्रकार दो हाथों से माया-विमोहित श्रवणों को निरंतर, अर्थ और शक्ति देती हुई, शिरन्तन-कारागार-रूपी संसार में कुंसाकर रचती है, उसी प्रकार अपने अन्य दो हाथों से धर्म और अर्थ देती हुई

ज्ञानी-भक्तों को अभ्युद्य और निःश्रेयस अवश्य प्रदान करती है । मोहित, ज्ञानहीन, कर्मासक्त-चित्त साधक, छायाभंगुर, परिणामशील और माया से उत्पन्न सिद्धियों को प्राप्त करके उनके द्वारा बार-बार नरक-लोक, स्वर्ग-लोक, प्रेत-लोक और पितृ-लोक में घूमते डुबे त्रिताप से तापित होते रहते हैं ॥ २७ - ७६ ॥ परंतु मेरे ज्ञानी भक्तगण परमानन्दसागर, सख्खिदानंदमय स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर समस्त सिद्धियों का सर्वस्व, अर्थात् परमसिद्धि रूपी मुझको ही भलीभांति प्राप्त करते हैं । उसके बाद वे मेरे परमपद के अनायास अधिकारी हो जाते हैं ॥ ७७ - ८७ ॥

हे मधुर्षिगण ! मेरी शक्तिरूपिणी सिद्धि अति प्रभावशालिनी है । वह मुझमें भक्तिहीन जूवों को मुझसे अत्यंत विमुक्त करके और अज्ञानरूपी आवर्त (जलभवर) से संकुल इस संसाररूपी अपार समुद्र में निरंतर गिराकर सर्वदा क्लेशित करती है । ॥ ७८ - ८० ॥ और पुनः वह मुझमें अनन्य भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ साधकों को मेरे निकट पहुँचा कर शीघ्र कृतार्थ कर देती है ॥ ८१ ॥ जिस प्रकार स्नेहमयी माता अपने पुत्रों को बच्चे के रूप से पालती-पोसती और प्रसन्नता से बढाती हुई, परममंगलमय अधिकार को शीघ्र प्राप्त करा देती है, उसी प्रकार करुणामयी यह सिद्धि सदा माता के समान आर्त्त, जिज्ञासु धीर अर्थार्थी इन मेरे त्रिविध भक्तों को निश्चय ही परम आनंद-समूह और उत्साह भलीभांति देती हुई, शीघ्र मेरी ओर उनको अग्रसर करती है । हे विज्ञावरों ! मेरी सेवा में रत प्रकृति के स्वरूप, दो प्रकार से विभक्त हैं, इसमें विचारने की कोश बात नहीं है । एक को परा और एक को अपरा जानो ॥ ८२ - ८६ ॥ अपरा नाम्नी मेरी प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक जल में सब जूवों को माया से हसा कर उनको द्रव्य का अनुभव निरंतर कराती हुई अपने विलासरूपी-वीलामय-संसार को प्रकट करती है ॥ ८७ - ८८ ॥ और मेरी धन्या-परा-प्रकृति साधकों के हृदय-कमल में मेरी भक्तिरूपिणी भृंगुवालि को संनिविष्ट करके त्रिगुण वैभव को बार-बार दर्शन कराती हुई, उनको द्रव्यतात्त पद में पहुँचाकर मेरा दर्शन करा देती है ॥ ८९ - ९० ॥

इसी कारण हे विज्ञावरों, मेरी प्रकृति की इन दो दशाओं में मेरी सिद्धि के स्वरूप का विकाश भी द्विविध होता है । एक परा सिद्धि और दूसरी अपरा सिद्धि नाम से अभिहित होती हैं । सिद्धि के जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह नाना-रूपधारिणी-सिद्धि मेरी अपरा सिद्धि है इसमें आप लोगों को संदेह नहीं होना चाहिये । हे ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मणों, जो पूज्या परानाम्नी सिद्धि है, वह चिन्मयी-सात्त्विकी, नित्या-छिता, अद्वैतकारिणी और स्वरूपानन्द-संदोह प्रकाशिनी कही गई है ॥ ९१ - ९४ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरी ऐसी सिद्धियाँ मेरी छच्छा के बिना संसार में कदापि प्रकाशित नहीं हो सकती ॥ ९५ ॥ क्योंकि मेरी शक्ति स्वेच्छाचारिणी नहीं हो सकती इस कारण मेरे अवतारों में और कभी-कभी मेरे ज्ञानी भक्तों में भी मेरी ऐसी सिद्धियों का प्रकाश स्वतः हुआ करता है । हे मधुर्षिगण, मेरे अवतार समूह का आविर्भाव अथवा ज्ञानी भक्तों में ऐसी सिद्धि का विकाश, जूवों के समष्टि कर्माधीन है ॥ ९६ - ९८ ॥ इस कारण हे ब्राह्मणों, ऐसी सिद्धियाँ अत्यंत दुर्लभ हैं । हे मधुर्षियों, आप मेरे स्वरूप और मेरी सिद्धि के स्वरूप को भली प्रकार जानकर कभी भी मेरी अपरा सिद्धि के बंधन-जाल में न हँसो और मेरी चिन्मयी परासिद्धि के परम अद्भुत मत्त्व को जानकर और उसकी ही उपासना करके द्रव्यतात्त अद्वैतानंद-प्रकाशक सनातन परमपद प्राप्त करो ॥ ९९ - १०१ ॥ हे ब्राह्मणों ! आप इस प्रकार स्थिर लक्ष्य

रभकर मेरे त्रितापत्रुपी त्रिशूल और सिद्धित्रुपी मोदक आयुधों की ओर कभी भी दृष्टि न रभकर और यक्ष और पद्मत्रुपी धर्म और मोक्ष पर निरंतर लक्ष्य रभकर और अग्रसर होकर कभी बाधा को प्राप्त नहीं होंगे, इसको सत्य जानो, इसमें कुछ संशय नहीं है ॥ १०२ - १०४ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीश गीतोपनिषद् में ब्रह्मविद्या-संबंधी योग शास्त्र का धीशर्षि संवादात्मक सिद्धिस्वरूप निरूपण नाम का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

3. ज्ञानभूमिनिरूपण

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व शक्तिमान विभो ! हे सर्व सिद्धियों के नित्य आधार स्वरूप ! हे सर्व सिद्धिदायिन् ! हे भगवन् धीश ! परासिद्धि की कृपा-प्राप्ति के लिये प्रथम उनके दर्शनलाभ की निश्चय ही आवश्यकता है, अतः उसके उपाय कहे, जिनके द्वारा परासिद्धि के दर्शन हम लोगों को अनायास ही अथवा जिस प्रकार से हम लोग इतार्थ हों, सो उपदेश कीजिये ॥ २ - ४ ॥

गणपति बोले ॥ ५ ॥ नित्या और विद्यास्वरूपिणी मेरी परासिद्धि का दर्शन ज्ञान-भूमियों में तत्त्वज्ञाननिष्ठ ज्ञानी मछापुरुषों को दिव्यदृष्टि से हुआ करता है और इस संसार में शांतचित्त तत्त्वज्ञानी साधक कमशः जैसे जैसे समज्ञान भूमियों में अग्रसर होते जाते हैं, वैसे वैसे उत्तरोत्तर मेरी विद्यारूपिणी परासिद्धि के स्वरूप का अत्यंत स्पष्ट दर्शन प्राप्त करते हुए परमानन्द सागर में निमग्न होते जाते हैं ॥ ६ - ८ ॥ हे विज्ञवर ब्राह्मणों ! मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ, और ज्ञान ही प्रकार का कड़ा गया है : अंक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान । हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! जहाँ ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेयों के भाव से युक्त त्रिपुटि का संबंध है वहाँ स्वरूप ज्ञान का कारणभूत, तटस्थ ज्ञान है । इस तटस्थज्ञान में सत्, चित् और आनन्द भावों का स्वरूप, पृथक् पृथक् अनुभूत होता है, इस कारण उस अवस्था में संपूर्ण दृश्य-समूह प्रतीत होता है ॥ १० - १३ ॥

जहाँ त्रिपुटि संबंध का लेशमात्र नहीं है और जहाँ सत्-चित् और आनन्द भाव का स्वतंत्र अनुभव नहीं है और जहाँ ये तीनों ही अद्वैत भाव में निरंतर स्थित हैं वहाँ उत्तम स्वरूप-ज्ञान का उदय होता है ॥ १४ - १५ ॥ तटस्थ ज्ञान बहुभावों से युक्त है क्योंकि अहम्-तत्त्व और महत्तत्त्व दोनों के संयोग से उसका अस्तित्व है ॥ १६ ॥ परंतु स्वरूप-ज्ञान नित्य अविकारी और पूर्ण है और तत्वातीत परमपद में उसकी नित्यस्थिति विद्यमान रहती है ॥ १७ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! जब परिणामशील तटस्थज्ञान से शनैः शनैः स्वरूप-ज्ञान का उदय होने लगता है, तब तत्त्वज्ञानी मछात्माओं में सर्वभूतों में अविभक्त, सब देश-काल और पात्रों में विकाररहित और सर्वभूतों में अंक ही भाव को द्विभानेवाला उन्नत सात्त्विक ज्ञान, स्वतः ही प्रकाशित होता है, इसमें संदेह नहीं, हे महर्षिगण ! उसके प्रभाव से ही मुक्तात्मा स्वरूप-ज्ञान का अनुभव अनायास कर लेते हैं इसमें विस्मय न करो ॥ १८ - २२ ॥ जैसे शब्द के बिना आकाश, स्पर्श बिना वायु, रूप बिना अग्नि, रस बिना जल और गंध के बिना पृथिवी का अस्तित्व कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार अहंकार के बिना तटस्थ ज्ञान का उदय नहीं हो सकता

॥ २३ - २४ ॥ परंतु स्वरूप-ज्ञान में अणुमात्र भी द्वैत की संभावना नहीं है, इस कारण वह मेरा ही स्वरूप है ॥ २५ ॥ हे ब्राह्मणों ! विभक्त ज्ञान अविधासंभूत है और उत्तम अविभक्त ज्ञान विधासंभूत (संभूत = composed) है ॥ २६ ॥ मैं ज्ञानरूप हूँ इस कारण यद्यपि दोनों ज्ञान में हूँ तथापि, यह अविभक्त ज्ञान परमपद की प्राप्ति कराता है ॥ २७ ॥ विभक्त ज्ञान ज़ुबों को मुझसे अत्यंत अलग स्थित रभता है । मुमुक्षुओं को विभक्तज्ञान से अविभक्तज्ञान-मंदिर में पहुँचाकर मेरे स्वरूप में अनायास ही पहुँचाने के लिये वेदो ने पडले ही सात ज्ञानभूमियों का वर्णन किया है ॥ २८ - २९ ॥ विश्व को बंधन प्राप्त करनेवाली सात अज्ञानभूमिकाओं में अज्ञानांध ज़ुव विमोहित होकर सदा हंसे रहते हैं ॥ ३० ॥ वेदविहित कर्मकांड की सहायता से साधक प्रथम शरीर की शुद्धि और तदनंतर मन की शुद्धि संपादन करके तत्पश्चात् मेरी उपासना के द्वारा चित्त की वृत्तियों को शांत करके अंत में तत्त्वज्ञान का दुर्लभ अधिकार प्राप्त करते हैं ॥ ३१ - ३२ ॥ अंत में तदनंतर हे ब्राह्मणों, कमशः सातों ज्ञानभूमियों को सोपानारोडण के समान शनैः शनैः अतिक्रमण करके अंत में वे पूर्णज्ञानी होकर मुझको प्राप्त कर लेते हैं । इस कारण स्वभावसिद्ध ज्ञान के कमविकाश से पूर्ण, ये सातों ज्ञानभूमियाँ मेरी परासिद्धि की कृपा से, मेरे स्वरूप ज्ञानप्राप्ति की अत्यंत कारण-रूपा हैं ॥ ३३-३५ ॥

सातों ज्ञानभूमियों में से प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पंचमी सत्यदा, षष्ठी आनंदपदा और सप्तमी परात्परा है ॥ ३६ - ३७ ॥ जब तक ज़ुव सप्त अज्ञानभूमियों का अतिक्रमण नहीं करते, तब तक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदा की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३८ ॥ जहाँ उद्भिर्जों के विधाकाश में प्रथम अज्ञानभूमि है, वहाँ स्वेदजों के विधाकाश में वह द्वितीय अज्ञानभूमि कहीं गई है ॥ ३९ ॥ अंडजों के विधाकाश में तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओं के विधाकाश में वह चतुर्थ है ॥ ४० ॥ परंतु पांच-कोशों के पूर्णता की अधिकारिणी मनुष्ययोनि में ही, शेष तीनों अज्ञानभूमियों का अधिकार रभती है ॥ ४१ ॥ वे ही तीनों उत्तम, मध्यम और अधम अज्ञानभूमियाँ कडलाती हैं, श्रेष्ठ ब्राह्मणों! मैं उनको स्पष्टरूप से कडता हूँ सुनो ॥ ४२ ॥ छन्दों तीनों अज्ञानभूमियों के समूल निराकरण के लिये वेद स्वयं मूर्त्तिधारण करके प्रवृत्त हुए हैं ॥ ४३ ॥ अधम अज्ञानभूमि में जब तक मनुष्य हंसा रहता है, उसको अपराध करने पर तिर्यक् योनि की प्राप्ति दंडरूप से हुआ करती है ॥ ४४ ॥ और हे ब्राह्मणों, मध्यम अज्ञानभूमि के अधिकारी मनुष्यों को पितृलोक, नरलोक और सुभद्रुःपपूर्णा मृत्युलोक की प्राप्ति बार-बार होती है अंत में सर्वोन्नत अज्ञानभूमि उर्ध्व स्वर्गलोक प्रदानकारी है ॥ ४५ - ४६ ॥

अधम अज्ञानभूमि-प्राप्त-मनुष्य, नास्तिक, देहात्मवादी, अशुचि और अनार्थ्य होते हैं ॥ ४७ ॥ परंतु हे ब्राह्मणों, मध्यम अज्ञानभूमि के अधिकारी मनुष्य, आस्तिक होने के कारण देह से आत्मा की पृथकता पर सर्वथा विश्वास करते हुए भी, सद्दियार-परायण होते हुए भी, मडाभूढः ँडलौकिक इन्द्रियसुषु में अत्यंत मग्न होकर, पारलौकिक सुषु को भूले रहते हैं । हे ब्राह्मणों, केवल उत्तम अज्ञानभूमि के पुण्यवान् अधिकारी, आत्मा से अतिरिक्त मेरी शक्ति का अस्तित्व मानकर, स्वर्गीय सुषु के अधिकारी हुआ करते हैं ॥ ४८ - ५१ ॥ अधम अज्ञानभूमि तमप्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि तम-रजप्रधान और उत्तम अज्ञान भूमि रजसत्वप्रधान कडी गई है । इसके अनंतर हे ब्राह्मणों, शुद्ध सत्त्व के कमविकाश-स्थलरूपी-पुण्यवान्-मनुष्यों के चित्ताकाश में

દેવદુર્લભ સમજ્ઞાનભૂમિયો કે અધિકાર, ક્રમશઃ સ્વભાવ સે હી ઉદય હોતે હૈ, ઔર ક્રમશઃ યે સાતો જ્ઞાનભૂમિયાં સાધક કે અંતઃકરણ મેં શુદ્ધ સત્ત્વ કી ભલીભાંતિ ઔર નિરંતર વૃદ્ધિ કરતી હુઈ, નિત્ય ઔર ગુણાતીત કેવલ્યપદ મેં નિશ્ચય પહુંચા દેતી હૈ ॥ ૫૨ - ૫૬ ॥

“મુજે જો કુછ જાનને યોગ્ય થા સો સબ કુછ જાન લિયા હૈ”, ઐસી બુદ્ધિ હોના પ્રથમ જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ કહા ગયા હૈ ॥ ૫૭ ॥ “મુજે જો ત્યાગના થા સો ત્યાગ દિયા”, યહ દૂસરી જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ માના ગયા હૈ । “મુજે જો શક્તિ પ્રાપ્ત કરની થી સો પ્રાપ્ત કરલી હૈ”, યહ ત્રીસરી જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ હૈ ॥ ૫૮ ॥ “યહ સબ માયા કી હી લીલા મુજે દિખાઈ દે રહી હૈ ઔર મુજે ઉસમેં મોહિત નહીં હોના” યહ ચતુર્થ જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ હૈ ॥ ૫૯ ॥ “જગત્ હી બ્રહ્મ હૈ” યહ પંચમ જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ કહા ગયા હૈ ॥ ૫૯ ॥ “બ્રહ્મ હી નિશ્ચય હી યહ જગત્ હૈ” યહ ષષ્ઠ જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ કહા ગયા હૈ ॥ ૬૦ ॥ ઔર, “મેં અદ્વિતીય નિર્વિકાર સચ્ચિદાનંદમય બ્રહ્મ હૂં”, ઐસી બુદ્ધિ સમમ જ્ઞાનભૂમિ કા અનુભવ માના ગયા હૈ ॥ ૬૧ ॥ ઇસ ભૂમિ કો પ્રાપ્ત કરકે હી સાધક બ્રહ્મસ્વરૂપ હો જાતા હૈ, હે મુનિશ્રેષ્ઠો, ઇસમેં કુછ સંદેહ નહીં ॥ ૬૨ ॥ હે મહર્ષિયો! શ્રવણ, મનન ઔર નિદિધ્યાસનરૂપ, યે હી ત્રિવિધ પુરુષાર્થ કહે ગયે હૈ ॥ ૬૩ ॥ મુમુક્ષુઓં કો મેરે પાસ અચ્છી તરહ પહુંચને કે લિએ ઇન્હીં ત્રિવિધ પુરુષાર્થોં સે યુક્ત, સાતો જ્ઞાનભૂમિયોં કી સાધનશૈલિયાં સાત સોપાનરૂપ હૈ । જિસ પ્રકાર કિસી રાજભવન કી છત પર ચઢને કે લિએ પૌડિયાં હોતી હૈ, ઉસી પ્રકાર સ્વરૂપજ્ઞાન મેં પહુંચને કે લિએ તટસ્થજ્ઞાન કી યે સાત જ્ઞાનભૂમિયાં સાત પૌડિયાં કે સમાન હૈ ॥ ૬૪ - ૬૬ ॥

હે તત્ત્વજિજ્ઞાસુ બ્રાહ્મણોં ! જ્ઞાનદાનામ્ની પ્રથમજ્ઞાનભૂમિ મેં વે મુમુક્ષુ અંતર્દૃષ્ટિ પ્રાપ્ત કરને લગતે હૈ ॥ ૬૭ ॥ ઉસ સમય જિજ્ઞાસુ પંડિતગણ મેરે સ્થૂલ અવયવોં કો હી પરમાણુરૂપ સે સર્વથા નિત્ય જાનકર, ઔર મેરે ઉન્હીં સ્થૂલ અવયવરૂપ વિભાગોં કો ષોડશ સંખ્યા મેં વિભક્ત દેખકર હી, વાદ કી સહાયતા સે, અથવા પર્યાલોચના-દૃષ્ટિ કે દ્વારા, સૃષ્ટિ કો દેખકર ઔર મુજકો કુલાલ (અર્થાત્ કુમ્હાર) કે સમાન કેવલ ઉસ સૃષ્ટિ કે કર્તારૂપ સે હી અનુમાન કરને મેં સમર્થ ઇસ હોતે હૈ ॥ ૬૮ - ૭૦ ॥ ઇસી પ્રથમ જ્ઞાનભૂમિ મેં તત્ત્વજ્ઞાની કે હૃદયરૂપ ક્ષેત્ર મેં આત્મજ્ઞાનરૂપ બીજ કા અંકુર નિશ્ચય ઉત્પન્ન હો જાતા હૈ ॥ ૭૧ ॥ ઇસ કારણ જ્ઞાની લોગ ઇસ જ્ઞાનભૂમિ કો જ્ઞાનદા કહતે હૈ જ્યોંકિ યહ જ્ઞાનભૂમિ મુમુક્ષુ કો નિત્ય જ્ઞાન પ્રદાન કરતી હૈ ॥ ૭૨ ॥ જ્ઞાનભૂમિ મેં પહુંચે હુએ ઔર કિસી ન કિસી પ્રકાર સે મેરી ઉપાસના મેં નિયમપૂર્વક લગે હુએ મુમુક્ષુઓં કે ચિત્ત મેં જ્ઞાનવાયુ સે ભલીભાંતિ કંપાયા હુઆ અજ્ઞાન-વૃક્ષ કા મૂલ સર્વથા શિથિલ હો જાતા હૈ ॥ ૭૩ - ૭૪ ॥ હે મહર્ષિયોં ! સન્ન્યાસદા-નામ્ની દ્વિતીય જ્ઞાનભૂમિ મેં સ્થિત મુમુક્ષુ હી મેરે સ્થૂલ શરીર કો કુછ નિકટ સે દેખતે હુએ મેરે સ્થૂલ અવયવોં મેં હી સૂક્ષ્મ શક્તિયોં કા નિરંતર અનુભવ કરતે હુએ ઔર ધર્માધર્મ કા નિર્ણય કરકે, અધર્મ કે ત્યાગ કરને કી યોગ્યતા પ્રાપ્ત કર લેતે હૈ । ઇસી કારણ ઇસ દૂસરી જ્ઞાનભૂમિ કા નામ સન્ન્યાસદા હૈ ॥ ૭૫ - ૭૭ ॥ હે શ્રેષ્ઠ બ્રાહ્મણોં ! યોગદા-નામ્ની ત્રીસરી જ્ઞાનભૂમિ મેં મુમુક્ષુ ચિત્ત-વૃત્તિ-નિરોધ કરને કા ઉત્તમ અભ્યાસ કરતે હુએ સંયમ કે દ્વારા ઇસ મેરી શક્તિ કો ઔર એકતત્ત્વ કે અભ્યાસ દ્વારા મુજકો અલગ-અલગ રૂપ સે દેખને મેં જબ પ્રવૃત્ત હોતે હૈ, તબ સાધકોં મેં સૂક્ષ્મદૃષ્ટિરૂપી અલૌકિક પ્રત્યક્ષ કા ઉદય હોતા હૈ ॥ ૭૮ - ૮૦ ॥

ઇસી કારણ વિજ્ઞ-લોગ ઇસ જ્ઞાનભૂમિ કો યોગદા કહતે હૈ, જ્યોંકિ યહ ચિત્ત-વૃત્તિ-નિરોધરૂપી યોગ કો ભલીભાંતિ

प्रदान करती है ॥ ८१ ॥ और हे विज्ञावरों ! वीलोन्मुक्ति-नाम्नी यतुर्था ज्ञानभूमि में पहुँचकर ही मेरी वीलामयी-अघटनघटनापटीयसी-त्रिगुणात्मिका प्राकृतिक तत्त्व को, मुमुक्षु निश्चय ही पडयान लेते हैं । उस समय वीलामयी प्रकृति अपनी वीला में उन साधकों को पुनः नहीं हँसा सकती । इस कारण इस ज्ञानभूमि को बुधगाणोंने वीलोन्मुक्ति कहा है ॥ ८२ - ८४ ॥ सत्यदानाम्नी पंचमी ज्ञानभूमि में पहुँचकर वे मुमुक्षु जब अपने ही अंतःकरण में अभेद ज्ञान को प्राप्त करने लगते हैं, उसी समय उनकी अनुभवशक्तियाँ विशेष बढःने लगती हैं, इसमें विचारने की बात नहीं है ॥ ८५ - ८६ ॥ हे विप्रो ! ऐक्य के कारण मुझमें और मेरी प्रकृति में जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्यस्वरूप में जो अभेद है, वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा उसको वे स्पष्टरूप से समझने में समर्थ होते हैं और जगद्गुणतिकाकार कर्म का रडस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मैं हूँ, इस विचार से मुझको टेभकर इस कार्य-ब्रह्म की सत्यता जान लेते हैं ॥ ८७ - ८८ ॥

इसी कारण इस ज्ञानभूमि को ही विद्वान् लोग सत्यदा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा लोगों को सद्भाव का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ९० ॥ और हे विप्रो ! आनंदपदानाम्नी षष्ठी ज्ञानभूमि में पहुँचकर ही मेरे मुमुक्षु भक्त मुझमें जडःमय कर्म-राज्य और येतनमय दैव-राज्य को ओकाधार में टेभने में जब समर्थ होते हैं तब वे मेरे रससागर में उन्मज्जन-निमज्जन करते दुअे, “मैं ही जगत् हूँ” इस प्रकार मुझको टेभकर अद्वैत आनंद का उपभोग करते हैं ॥ ८९ - ९३ ॥ इसी कारण इस ज्ञानभूमि को बुधगाण आनंदपदा कहते हैं क्योंकि इस भूमि में साधक आनंद प्राप्त करते हैं ॥ ९४ ॥ हे विप्रो ! परात्यरा-नाम्नी सप्तमी और अंतिम ज्ञानभूमि में, मेरे ज्ञानी भक्त पहुँचकर कार्य-कारण (अर्थात् cause-effect) की भेद-दृष्टि का लय करके, मेरे स्वरूप में लय हो जाते हैं और भेद-ज्ञान के लय होने से ही उनके विशुद्ध अंतःकरण में, सर्वभूतों में अैक्यप्रदर्शक, अज्ञानांधकारोत्पादक और अद्वैतभाव-उत्पादक अविभक्त ज्ञान का उत्तमरीति से उदय होता है इसमें संदेह ही नहीं । उस समय मेरे ज्ञानी भक्तों में और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है ॥ ९५ - ९८ ॥

वे मेरे स्वरूप में, स्वरूपज्ञान के अवलंबन से, विलीन हो जाते हैं, इसी कारण इस भूमि को विद्वान् लोग परात्यरा कहते हैं ॥ ९९ ॥ साधारण दृष्टि से इन सातों ज्ञान-भूमियों में कोठ-कोठ तत्त्वजिज्ञासु, जो विरोध भाव की शंका करते हैं, वड हीक नहीं है ॥ १०० ॥ हे विज्ञानविद् ब्राह्मणों ! सप्त अज्ञानभूमियों और सप्त ज्ञानभूमियों से ही भलीभांति पूर्ण, परमाद्भुत मडाकाश गोलक है । उस गोलक के नीचे के सात स्तर सप्त छाया से पूर्ण हैं ॥ १०१ - १०२ ॥ और ङपर के सात स्तर सप्त ज्योति से पूर्ण हैं । नीचे के चार छाया स्तर, यतुर्विध भूतसंघ के समिष्टि त्रिदाकाश से पूर्ण हैं । उसके ङपर की तीन अज्ञानभूमियों के स्तर तथा सात ज्ञान-भूमियों के स्तर, ये दश स्तर दशविध अधिकारों को धारण करके समस्त मानव और दैवपिंड में व्याप्त हैं । इस कारण हे विज्ञानविद्गरो ! इन दशों अधिकार में ही निम्न से निम्नतम और उच्च से उच्चतम सप्त छितकर दार्शनिक अधिकार समिलित हैं यड निश्चय है ॥ १०३ - १०७ ॥ मेरी वड अघटनघटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्ता होकर इस मडाकाशगोलक में प्रकाशित है ॥ १०८ ॥ हे विप्रो ! वड ही, विधारूप से ङपर की सप्त भूमिकाओं में और अविधारूप से नीचे की सप्त भूमिकाओं में परिव्याप्त है ॥ १०९ ॥ इन सप्त छाया और सप्त ज्योतियों से पूर्ण मडाकाश गोलक को अधाररूप से मेरी जडा-प्रकृति नित्य ही धारण कर रही है और मैं शुद्ध चिन्मय होकर उसके ङपर स्थित हूँ ॥

११० - १११ ॥ इस अध्यात्मगोलक का दर्शन जिस ज्ञानवान् को होता है वह ही सर्वथा मेरे दर्शन करने में समर्थ होता है ॥ ११२ ॥

वैदिक, दर्शनोक्त ज्ञान ही इसके लिये नेत्र-स्वरूप हैं, निःसंदिह, मैं सत्य कहता हूँ ॥ ११३ ॥ अतः, जो सप्त ज्ञानभूमियों के सप्त दर्शनशास्त्रों में विरोधकल्पना करते हैं, वे मेरे ज्ञानी-भक्त नहीं हैं ॥ ११४ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! आप लोग मेरे ज्ञानी-भक्त होते हुए अविभक्त, विकारहीन और अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके परासिद्धि की कृपादृष्टि से आश्रासित होकर, मत्सायुज्य को प्राप्त करके कृतकृत्यता को प्राप्त हों ॥ ११५ - ११६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी योग-शास्त्र का धीशर्षि संवादात्मक ज्ञानभूमिनिर्घण्टु नाम का तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

४. धर्मविज्ञाननिर्घण्टु

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ ! ज्ञानभूमियों का मडान् अद्भुत रहस्य और अविभक्त ज्ञान के प्रकाश करनेवाली शैली को सुनकर हमारी सब शंकाएँ दूर हो गई हैं, इसमें संदिह नहीं । कृपा करके हमको यह भी आज्ञा कीजिये कि अज्ञानभूमियों के प्रभाव से बचाकर, मुमुक्षु-साधक-जुवों को आनंदपूर्वक ज्ञानभूमियों में कौन पहुँचाता है ? ॥ २ - ४ ॥ किन उपायों द्वारा मुमुक्षु-साधक अज्ञानभूमियों को अतिक्रमित करके शीघ्र ज्ञानभूमियों को प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥ तथैव, सातों ज्ञानभूमियों में क्रमशः अग्रसर होते हुए, अंत में सच्चिदानंदस्वरूप आपको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

गणपति बोले ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणों ! सर्व-लोक-हितकर, ब्रह्मांडपिंडात्मक सृष्टि का धारक और अभ्युदय और मुक्ति विधायक, यह मडान् धर्म ही मनुष्यों को अज्ञानभूमियों से बचाकर ज्ञानभूमियों में निरंतर ही पहुँचा देता है ॥ ८ - ९ ॥ और क्रमशः अभ्युदय को सम्यक् प्रदान करता हुआ, अंतिम ज्ञानभूमि में पहुँचाकर तदनंतर कैवल्य प्रदान करता है ॥ १० ॥ हे विप्रो ! धर्म का मैं ही स्थिति-स्थान हूँ और धर्मरूपा मेरी ही सनातनी शक्ति है जो विराट् सृष्टि के प्रवाह को निश्चय ही धारण किये हुए है । हे महर्षिगण ! निश्चय ही मेरी सत्त्वगुणमयी शक्ति, धर्म है, इस विषय में कोह संदिह नहीं है, हे विप्रपुंगवो ! मेरी शक्ति त्रिगुणात्मिका है ॥ ११ - १३ ॥ आकर्षण-शक्ति विशिष्ट राजसिक-शक्ति कलवाती है और विकर्षण-शक्ति विशिष्ट तामसिक-शक्ति कलवाती है ॥ १४ ॥ और उन दोनों शक्तियों का इस संसार में समन्वय करनेवाली मेरी जो सात्त्विक शक्ति है वही धर्म है इसमें संदिह नहीं ॥ १५ ॥ यही धर्म की धारिका-शक्ति, परमाणु से लेकर ब्रह्मांड के विस्तार पर्यंत परिव्याप्त है ॥ १६ ॥ धर्म की धारिका-शक्ति के प्रभाव से ही सब सूर्य-चंद्रादि ग्रह-उपग्रहादि और नक्षत्रमंडल मेरे विराट् देह में यदुद्दिशा अपनी-अपनी कक्षा में निरंतर परिभ्रमण करते हैं ॥ १७ - १८ ॥

और परस्पर को सहायता देकर सृष्टि की रक्षा करते हैं । धर्म की उत्तम धारिका-शक्ति देवासुर संग्राम के द्वारा दैवी सृष्टि की पवित्रता सम्पादन करती हुई देवताओं और असुरों को अपने-अपने लोकों में सुप्रतिष्ठित रखती है ॥ १८ - २० ॥
 १८ - २० ॥ हे विज्ञो ! मेरी प्रकृति के धर्ममय मातृभाव के द्वारा ही निरंतर पालित-पोषित लोक रज्जुपुत्रों के स्वदेव, स्वदेव से अंश, अंश से जरायुज, और जरायुज योनि से मनुष्यों में पशुंयकर अवश्य ही कैवल्यमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग के अधिकारी बन जाते हैं ॥ २१ - २३ ॥ मैंने केवल मनुष्यों को ही धर्माधर्म का ज्ञान प्रदान करके उनको कैवल्यमार्ग का पथिक बना दिया है ॥ २४ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! यह धर्म की धारिका-शक्ति ही मनुष्यों की कर्मशः उत्तरोत्तर उत्पत्ति कराकर अंत में उनको ज्ञानभूमि का अधिकारी बनाकर, शनैः शनैः कैवल्यपद प्रदान करती है ॥ २५ - २६ ॥ धर्म, सर्व-व्यापक, सर्व-जुगलितकारी, सर्व-रक्षक सबको अभ्युद्यत प्रदान करनेवाला, और सबके हृदय में मेरे स्वरूप का प्रकाश साधारण करनेवाला, एवं साधक ज्यों को शिवत्व प्रदानकारक है ॥ २७ - २८ ॥

हे ब्राह्मणो ! साधारण और विशेष रूप से दो प्रकार का यह सार्वभौमस्वरूपी धर्म कला गया है यह निःसंदेह है ॥ २८ ॥ उनमें से धर्म सर्व-जुगलित-तत्पर है और अधिकार विशेष के केन्द्रों से युक्त, ज्यों का विशेष धर्म, निश्चय ही परम हित सम्पादन करता है । मैं इस समय साधारण धर्म का अंगवर्णन करता हूँ, आप सावधान चित्त से सुनो । यौबीस तत्त्वों के अनुरूप पूर्णवयव, साधारण धर्म के यौबीस अंग हैं । दान त्रिविध कला गया है, यथा - अर्थदान, विद्यादान और अभयदान ॥ ३० - ३३ ॥ तपोवेत्ता मलात्माओं ने तप के भी शारीरिक, वायनिक और मानसिक रूप से तीन भेद कहे हैं ॥ ३४ ॥ कर्मयज्ञ नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत रूप से षड्विध है ॥ ३५ ॥ उपासनायज्ञ के नौ भेद हैं और वे सब भक्ति और योगमूलक हैं ॥ ३६ ॥ उपासना का योग स्थूल-देह है यह निःसंदेह है । हे ब्राह्मणो ! भक्ति उसी की ही प्राणरूपिणी है ॥ ३७ ॥ योग के विचार से उपासना मंत्र, लठ, लय और राज इन यतुर्विध भेदों से निश्चय ही यतुर्विध जाननी चाहिये ॥ ३८ ॥ भक्ति के भेद से उपासना पंचविध है । हे ब्राह्मणो ! राग, द्वेष और अशुचि से युक्त मेरे मूढः भक्तगण आसुरी शक्तियों में ही मेरी सदा उपासना करते हैं । शुभ-कृतेच्छु-सकाम-भक्तगण मेरी दैवी शक्तियों में ही निरंतर मेरी उपासना करते हैं । विषयानन्द में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करनेवाले मेरे उत्तम भक्तगण स्वभाव से ही मेरे लीलाविग्रह की उपासना में रतात्मा होते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ३९ - ४२ ॥ और ज्ञानी भक्तगण मेरे सगुणरूप तथा निर्गुणरूप में मेरी उपासना करके परमानन्दसागर में मग्न होते हैं ॥ ४३ ॥

हे महर्षिगण ! श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप से ज्ञान-यज्ञ के तीन भेद कहे गये हैं ॥ ४४ ॥ धर्म के ये स्वभावसिद्ध अंग, सर्व-जुगलितसाधक कहे गये हैं । ॥ ४५ ॥ ज्योंकि लोक में रुचि विभिन्न है और सामर्थ्य भी विभिन्न है, इस कारण साधारण धर्म सर्व-प्राणि-हितप्रद है ॥ ४६ ॥ यदि यौबीस अंगों से पूर्ण धर्म के सर्व-लोक-हितकर स्वरूप को धर्म-जिज्ञासु जान जायँ तो वे उदार-हृदय होकर सब प्राणियों के ही गुण की पूज्यपदवी को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४७ - ४८ ॥ युगयुग में जितने ही धर्ममार्ग पैदा होंगे वे सब साधारण धर्म के इन अंगों में से कुछ अंगों का आश्रय लेकर ही निःसंदेह कृतकृत्यता को प्राप्त होंगे । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! अब तक संसार में जितने भी धर्ममार्ग उत्पन्न हुए हैं वे जैसे ही कृतार्थता को प्राप्त हुए हैं । हे विप्रो ! इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ४९ - ५१ ॥

यही शाश्वत धर्म की निश्चय पूर्णता है, यही मलत्त्व है और निश्चय यही पितृभाव है ॥ पर ॥ जो धर्म अन्यधर्मों से द्वेष न करे, अथवा अन्यधर्मों को कभी भाधा न दे और सबको यथाधिकार, उभयविध, अभ्युद्य प्रदान करे और सबको निःश्रेयस का मार्ग बतावे, यही सनातन धर्म है, यही उपनिषद् है ॥ प३ - प४ ॥ हे विप्रो ! विशेष धर्म का स्वरूप अतिविचित्र है । जैसे आर्य जाति के लिखे वार्ता और आश्रमधर्म परमहितकर कला गया है, वैसे अनार्य जाति के लिखे वल उपयोगी नहीं है इस कारण, “वर्ण” और “आश्रम धर्म” विशेष धर्म है इसमें सदेह नहीं ॥ प५ - प६ ॥ हे मलर्षियों ! वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रम धर्म निवृत्ति-पोषक है । आर्य जाति को ये दोनों धर्म ही चिरकाल पर्यंत ज्वित रभकर संकरता दोग और पतन से बचा जाता है ॥ प७ - प८ ॥

हे ब्राह्मणों ! तप मूलक नारी-धर्म और यज्ञ मूलक पुरुष-धर्म ये दोनों भी विशेष धर्म हैं ॥ प९ ॥ प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, शाक्तधर्म, शैवधर्म, वैष्णवधर्म, सौर्यधर्म और आर्द्रधर्म आदि, ये सब विशेष धर्म के अंतर्गत ही हैं ॥ ६० - ६१ ॥ हे ब्राह्मणों ! विशेष धर्मों में सबसे प्रधान, श्रेष्ठ, व्यापक, और प्रथम धर्म सदाचार है ॥ ६२ ॥ ऋषीं कि धर्मानुसूल सब शारीरिक व्यापारों को सत्पुरुष सदाचार कहते हैं । यह निश्चय ही पुण्यवर्द्धक है ॥ ६३ ॥ विशेष धर्म का ही अंतिम अधिकार यह सन्यास है यह निश्चित है ॥ ६४ ॥ हे विज्ञवरो ! केवल कर्म के त्याग से सन्यास नहीं होता अपितु वासना के त्याग से ही सन्यास की सिद्धि होती है । विशेष धर्म का अधिकार अति-विचित्र और अति-विस्तृत होने से, अपने स्थूल अंग के संयावनरूपी-सदाचारमय-स्थूलातिस्थूल क्रिया से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म-ब्रह्मसद्भाव की प्राप्ति के कारणरूपी सन्यास तक उसका संबंध है ॥ ६५ - ६६ ॥ हे विप्रो ! वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मों के पालन द्वारा ही मेरे भक्त कमशः अज्ञानभूमियों से बचकर ज्ञानभूमि के पथिक बनते हैं । कमशः साधारण धर्म जो सार्वभौम, सत्, सर्वज्वलितकारी, मोक्षसाधक, सर्वशक्तिमय, श्रेष्ठ, व्यापक, और दिव्य है, उस स्वरूप को ज्वधारी साधक, यहाँ जितना अनुभव करते जाते हैं, उतनी ही उन्नत से उन्नततर ज्ञानभूमि में वे आरोहण करते जाते हैं ॥ ६७ - ७२ ॥ अंत में वेदांतसिद्धांत के श्रेष्ठ अनुभव को शीघ्र प्राप्त करके मत्सायुज्य को प्राप्त करते हैं और इसके बाद इतार्थ हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी धीशर्षि संवादात्मक योग शास्त्र का धर्मविज्ञाननिर्णय नामक यतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

प. वेदांतनिर्णय

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥ हे जगद्गुरो ! हे आदिगुरो ! हे वेदांतकृत् ! हे पूज्य ! हे विभो ! हे देव ! आपकी कृपा के उदय से ही हम लोगों ने वेदों को प्राप्त किया था ॥ २ ॥ और इस समय आपके चलत्-तरंग अपार कृपाकृपी समुद्र के तटाश्रय से हम लोगों ने आप से वेद के अनेक रहस्य सुने हैं ॥ ३ ॥ जिससे कृतकृत्यता को प्राप्त करते दुखे आज यही प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानरत्न के समुद्र, वेदों में, जिसको वेदांत कहा है ॥ ४ ॥ उसी सर्वोत्तमज्ञान का हमको उपदेश दें, जिससे हम निश्चित रूप से परम शांति प्राप्त करें ॥ ५ ॥ हे विज्ञवरो, मैं तुमसे सब उपनिषदों के साररूप और वेद-समुद्र के अमृतरूप, वेदांतयोग का वर्णन करता हूँ जिसके निदिध्यास, श्रवण, मनन

द्वारा मुमुक्षु, ज्ञान समुद्र को पार करके त्रिताप से मुक्त होते लुभे, अव्यय आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं । हे विप्रश्रेष्ठो ! इसमें कोई संदेह नहीं करना चाखिये ॥ ७ - ६ ॥

मेरी प्रकृति के स्वभाव से उत्पन्न सलज कर्म के जाल में हंसने से, और अनादि अविद्या के प्रभाव से, ज्ञान का विज्जडः्त्रिंशिउप-जुवत्व प्रकट होता है । यह ज्ञानभाव-प्रकाशिनी अविद्या, अनादि है ॥ १० - ११ ॥ हे विज्ञो ! त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वाभाविक चांयव्यलेतु यह कर्मप्रवाल भी अनादि है ॥ १२ ॥ ज्योंकि, सलज कर्म पाश, सदृश और प्रकृति के स्वभाव के साथ उत्पन्न कडा गया है इसमें संदेह नहीं ॥ १३ ॥ भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी सलजकर्म द्वारा इस यतुर्विधभूतसंध की उत्पत्ति स्वतः ही होती है ॥ १४ ॥ हे मलर्षिगण ! अविद्या के प्रभाव से जो दृढ अज्ञानमयी विज्जडः्त्रिंशि उत्पन्न होती है वही संसाररूपी भंवर में डालनेवाला ज्ञानभाव है । हे विज्ञ विप्रो ! अविद्योपहित चैतन्य, मेरी प्रकृति की सत्सत्ता के प्रभाव से, व्यष्टि-अलंकार (अर्थात् परमात्मा का वह स्वत्व जो व्यक्ति-विशेष बनकर अभिव्यक्त होता है) के यक में पडः्कर, द्वैतभाव-उद्बोधक ज्ञानत्व को प्राप्त करता है ॥ १५ - १७ ॥

पुनः, हे ब्राह्मणो ! मेरा ज्ञानी भक्त विद्या की सहायता प्राप्त कर नित्य स्थित कैवल्यपद को प्राप्त करता हुआ मुझमें ही मिल जाता है ॥ १८ ॥ हे ब्राह्मणो ! मेरे भक्त अविद्या के दृढः जाल को और दुर्दम कर्म के बंधन को मेरे प्रभाव से अतिक्रमण कर लेते हैं ॥ १९ ॥ ज्योंकि मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी है अतः सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण इसमें स्वभावतः रहते हैं ॥ २० ॥ हे ब्राह्मणो ! प्रकृति, रजोगुण से उत्पत्ति, सत्त्वगुण से निरंतर स्थिति, और तमोगुण से लय, अर्थात् संसार, स्वभावतः करती रहती है ॥ २१ ॥ प्रकृति के ये तीनों गुण स्वभावसिद्ध होने पर भी मेरे तम और सत्त्व दो गुण ही प्रधान हैं ॥ २२ ॥ रजोगुण प्रवृत्ति-पर (प्रवृत्ति की ओर ध्यान देनेवाला) और सृष्टि-कारी होने के कारण, तमोगुण और सत्त्वगुण का केवल सहायक है ॥ २३ ॥ इसी कारण हे ब्राह्मणो, मेरी प्रकृति जब तमोमयी रहती है तब उसको विद्या और अविद्या के भेद को जाननेवाले अविद्या कहते हैं ॥ २४ ॥ और जब वह शुद्ध सत्त्वमयी रहती है तब संसार में तत्त्वज्ञानी उसको विद्या कहते हैं ॥ २५ ॥ सत्त्व में तम का परिणाम और तम में भी सत्त्व का परिणाम अवश्य होता है इसमें संदेह नहीं ॥ २६ ॥ ज्योंकि रजोगुण ही उभय सहायक है, और मेरी प्रकृति स्वभाव से ही परिणामशीला है ॥ २७ ॥ हे मलर्षि गण ! इन दोनों गुणों का आपस में यह परिणाम स्वभावसिद्ध ज्ञानत्व है अतः, यह सिद्धांत आश्चर्यकारक नहीं है ॥ २८ ॥ जब पूर्ण तमोगुण में स्वभाव से सत्त्व परिणाम उत्पन्न होता है, तब, वही विज्जडः्त्रिंशि उत्पन्न होकर सुस्पष्ट प्रकाशभाव को प्राप्त होती लुभ, जडः् परमाणुओं में प्रत्यक्ष प्रामाण्यबोधक उत्पन्न करती है ॥ २९ - ३० ॥

हे मलर्षिगण ! उद्भिज्जयोनि में वह विज्जडः्त्रिंशिउपिणी-चेतनसत्ता, कमविकाश को प्राप्त करती लुभ, स्वेदजयोनि में पडुंयती है । स्वेदजयोनि से अंजय योनि में, अंजययोनि से जरायुजयोनि में, और जरायुजयोनि से मनुष्य योनि में उपाणी प्रकृति की कृपाप्राप्त होकर स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाती है ॥ ३१ - ३३ ॥ हे विज्ञ मलर्षियो ! यह ज्ञान की उत्पत्ति और मुक्ति का अद्भुत और गूढः रहस्य मैंने आप लोगों से वर्णन किया ॥ ३४ ॥ यह सब उपनिषदों में भी गुप्त है । श्रीगुरु की कृपा बिना कोई भी इसको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ३५

॥ अघटनघटनापटीयसी मेरी प्रकृति अविधारूप से ज़ुब का बंधन करती है और पुनः वही सत्त्वमयी बनकर विधारूप धारण करके ज़ुबों को उत्तम डैवल्यपद प्रदान करती है ॥ ३६ - ३७ ॥ और जो ज़ुब स्वाधीनता को प्राप्त करके विधा की उपासना नहीं करते हैं वे ब्राह्मणों, अविधा से आश्रयत्रयित वे ज़ुब, निश्चय इस त्रिगुण परिणाम के यज्ञ में अनंतकाल पर्यंत त्रिताप को भोग करते दुःखे निरंतर भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३८-३९ ॥ हे द्विजवर ! विशेष लक्षणद्वारा ज़ुब और ब्रह्म की सत्ता का अनुभव, और मायाप्रपंच रूपा सृष्टि का रहस्य, आपसे मैं वर्णन करता हूँ । सावधान होकर सुनो जिससे आप लोगों को ब्रह्म और ज़ुब का सम्यक् ज्ञान होगा ॥ ४० - ४१ ॥ हे मधुर्षिगण ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण जो शरीर से पृथक् हैं, पंचकोषों से जो अतीत हैं, तीनों अवस्थाओं के जो साक्षीरूप हैं, यतुर्विशति (अर्थात् चौबीस) तत्त्वों के जो आधार हैं और अविधा तथा मायारूप उपधियों के द्वारा प्रतीयमान जो ज़ुब और ईश्वर इन दोनों से जो भिन्न हैं वही सख्यिदानंदस्वरूपवान् ब्रह्म हैं, असा भुधगण कडते हैं ॥ ४२ - ४४ ॥ हे तत्त्वज्ञानियों ! अब मैं यहाँ इन सब लक्षणों का यथाक्रम वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥ हे विप्रो ! पंचीकृत पंच मंडालूतों से बना हुआ, कर्म से उत्पन्न और सुषुप्त्यादि भोगों का जो स्थान है, अर्थात् जिसके द्वारा सुषुप्त्यादि भोग होते हैं, अर्थात् वर्तमान हैं, उत्पन्न होते हैं, बढते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं, क्षय होते हैं और नाश होते हैं, इन छः भाव-विकारों (स्टेट-ट्रांस्फार्मेशन) से जो युक्त है, वल सर्वथा क्षणभंगुर, स्थूल शरीर है वे ब्राह्मणों । इसको स्थूल शरीर का स्पष्टलक्षण जानो ॥ ४६ - ४८ ॥

हे विप्रो ! अपंचीकृत पंच मंडालूतों से बना हुआ, कर्म से उत्पन्न और सुषुप्त्यादि भोगों का जो साधनरूप है, अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, पांच वायुओं, अक मन और अक बुद्धि, इस प्रकार सत्रल कलाओं (कला - phase) से युक्त होकर जो स्थित हैं वल सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है ॥ ४९ - ५१ ॥ हे विज्ञो ! अनिर्वचनीया, अनादि, अविधारूप, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का अक मात्र ही कारण है, और वल ज़ुबत्वप्रतिपादक कारण शरीर है, जो अपने स्वरूप का अज्ञानस्वरूप अर्थात् निर्विकल्प रूप है ॥ ५२ - ५३ ॥ अनादि ज़ुबप्रवाल की अलग-अलग ज़ुब सृष्टि के प्रारंभ में, जडः और चेतन की त्रिंशि बांधनेवाली जो प्रथम दशा पैदा होती है, वही ज़ुब का कारण शरीर है । सूक्ष्म-शरीर के संस्कारों में प्रतिक्रिया परिवर्तन होता रहता है और इसी कारण ज़ुबों को अपने-अपने संस्कारों के अनुसार अलग-अलग नाना विचित्रतामय स्थूल शरीर धारण करने पडते हैं ॥ ५४ - ५६ ॥ परंतु हे विप्रो ! सर्वथा अनादि-अविधा मूलिका और दो शरीरों की मूलकारणरूपा अर्थात् चिदात्मा को ढकनेवाली और विकारहीन जो दशा है, विद्वान लोग उसको कारणशरीर कडते हैं ॥ ५७ - ५८ ॥ हे विज्ञविप्रो ! आत्मा को अत्यंत आवरण करनेवाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये ही पांच कोष हैं इसमें कुछ भी सडिड नहीं है ॥ ५९-६० ॥

हे विप्रो ! “कोश” शब्द से आच्छादन, छिलका, आवरण और तदर्थक अन्य शब्दों को समझना चाडिये ॥ ६१ ॥ जैसे प्याज में अक के ढापर दूसरा छिलका रहता है उसी प्रकार ज़ुब-शरीरों में पाँच कोश समझने उचित हैं ॥ ६२ ॥ हे विप्रवर ! प्रथम आनंदमय कोश होता है, उसके ढापर विज्ञानमय कोश होता है, उसके ढापर मनोमय कोश होता है, उसके ढापर प्राणमय कोश होता है और इन सबों के ढापर ही अन्नमय कोश होता है ॥ ६३ - ६४ ॥ अन्न के रस से ही उत्पन्न होकर, अन्न के रस से ही उन्नति (वृद्धि) को प्राप्त होकर और अन्न की

रसरूप पृथिवी में ही जो अंत में लय को प्राप्त होता है, वह अन्नमय कोश है, जिस को स्थूलशरीर कहते हैं । हे मुनिवर ! सूक्ष्मदेह का लक्षण सुनिये ॥ ६५ - ६६ ॥ प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोशों का ही सूक्ष्म-शरीर होता है ऐसा वेद-पारगामी ब्राह्मणगण कहते हैं ॥ ६७ ॥ प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर “प्राणमय कोश” इस नाम को प्राप्त होते हैं ॥ ६८ ॥ अंक ही मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर ही मनोमय कोश नाम से विद्वानों के द्वारा कहा जाता है ॥ ६९ ॥ अंक ही बुद्धि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश नाम को धारण करती है इसमें सँदृष्ट नहीं है ॥ ७० ॥

हे ब्राह्मणों, कारणशरीरभूता-अविद्या में ही स्थित, मलिन सत्त्व, आत्मस्वरूप का अज्ञानरूप और प्रिय मोह और प्रमोह, इन भावों से ही युक्त कोश विद्वानों द्वारा “आनंदमयकोश” कहा जाता है ॥ ७१ - ७२ ॥ और वही कारण-शरीर कहा गया है क्योंकि वह ही यौबीस तत्त्वों का कारण है ॥ ७३ ॥ अब इन पाँचों कोशों से संबंधयुक्त तीन अवस्थाओं का लक्षण मैं वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ७४ ॥ जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था नामक तीन अवस्थाएँ हैं । श्रोत्रादि पंचज्ञानेन्द्रियों से शब्दादि विषय जहाँ भली-भाँति जाने जाते हैं, वह जाग्रदवस्था है । विद्वानों के द्वारा स्थूल शरीर का अभिमानी आत्मा, विश्व कहा जाता है ॥ ७५ - ७६ ॥ जाग्रदवस्था में जो देखने और सुनने में आता है उससे उत्पन्न, वासनासमूह के द्वारा जिस अवस्था में प्रपंच प्रतीत होता है, जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्यवर्तिनी वह अवस्था स्वप्नावस्था है । सूक्ष्मशरीर का अभिमानी आत्मा तैजस कहा जाता है ॥ ७७ - ७८ ॥ जिस अवस्था में “मैं कुछ भी नहीं जानता था, सुषुप्तपूर्वक मैंने निद्रा ली” इस प्रकार का अनुभव, जाग्रदवस्था में जो याद दिलाती है, उसको तत्त्वज्ञानी “सुषुप्ति अवस्था” कहते हैं । कारण-शरीर का अभिमानी आत्मा “प्राज्ञ” कहा जाता है ॥ ७९ - ८० ॥ समष्टि स्थूल शरीर को ही विराट् कहते हैं इस कारण स्थूल-शरीर के देवता विश्व कहलाते हैं ॥ ८१ ॥ हे महर्षिगण ! सूक्ष्म-राज्य के, सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट देवताओं का शरीर, तेजोमय होता है, जिस कारण सूक्ष्म शरीर के अभिमानी देवता तैजस हैं । कारणशरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इस कारण उसके अभिमानी देवता “प्राज्ञ” कहलाते हैं । अब मैं यौबीस तत्त्वों का वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ८३ - ८४ ॥

हे महर्षिगण ! इन यौबीस तत्त्वों को कोष्ठ किसी प्रकार से वर्णन करता है, कोष्ठ किसी प्रकार से, परंतु ये सब मतान्तर मूल सिद्धांत के विरुद्ध नहीं हैं ॥ ८५ ॥ श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना और घ्राण, इनको वेदांतपारगामी विज्ञाण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८६ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वाक्, पाणि-पाद, पायु और उपस्थ, इनको तत्त्वान्वेषिगण पंच कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८७ ॥ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इनको प्राणतत्त्वानुचितक पंच प्राण कहते हैं ॥ ८८ ॥ प्राण वायु हृदय में रहता है । अपान वायु गुदे में स्थित रहता है । समान वायु नाभि में, उदान वायु कण्ठ में, और व्यान वायु सर्व शरीर में रहा करता है ॥ ८९ ॥ ज्ञानीगण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इनको पाँच तन्मात्रा कहते हैं ॥ ९० ॥ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप से अंतःकरण के चार भेद हैं इसमें सँदृष्ट नहीं ॥ ९१ ॥ हे सज्जनों, ये ही यौबीस तत्त्व हैं । निःसँदृष्ट में ही पुरुष रूप से पंचविंशतितम तत्त्व हूँ इस कारण तत्त्वज्ञानी गण मुझे तत्त्वतीत परमतत्त्व कहते हैं इसमें विस्मय न करो ॥ ९२ - ९३ ॥

अब छद्रियों के विषयों का वर्णन करता हूँ के विप्रवरो ! आप लोग समाहित होकर सुनें ॥ ८४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है, यक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है और घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है इसमें संदेह नहीं । वागिन्द्रिय का विषय वक्तव्य है, पाणीन्द्रिय का विषय वस्तु ग्राहण है, पादेन्द्रिय का विषय गन्तव्य है, गुदेन्द्रिय का विषय मलत्याग है और उपस्थेन्द्रिय का विषय मूत्र-त्याग है ॥ ८५ - ८७ ॥ हे ब्राह्मणों ! मैं दो छद्रियों का अेक गुड्य रडस्य आप लोगों से कडता हूँ, समाहित होकर सुनो ॥ ८८ ॥ जिह्वा में रसग्राहण और वाक्-शक्ति दोनों होने से वड अत्यंत डी प्रबल है ॥ ८९ ॥ उसी प्रकार पुरुषधिह्न और स्त्रीधिह्नरूपी उपस्थ और योनि में भी मूत्रत्यागरूपी कर्मेन्द्रिय का कार्य और और अतिप्रबल स्पर्शसुभरूपी ज्ञानेन्द्रिय का कार्य रडने से उनकी प्रबलता सर्वथा प्रसिद्ध है ॥ १०० - १०१ ॥ अंतःकरणयतुष्टय (यारों अंतःकरण विषयक) संकल्प करना, निश्चय करना, स्मरण करना और अडंकार करना यथाकम यार विषय है ॥ १०२ ॥

हे विज्ञमडर्षियों ! अब तत्त्वों के अभिमान को धारण करनेवाले, जो अधिपति कडे जाते हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सो दत्तचित्त होकर आप लोग सुने ॥ १०३ ॥ दिक्, वायु, अर्क, प्रयेता, अश्विनी, वह्नि, ँन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, शिव, चंद्र, ब्रह्मा, रुद्र, और क्षेत्रज्ञ ये सड अधिपति हैं ॥ १०४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय की देवता दिशाअ है, त्वगिन्द्रिय की देवता वायु है, यक्षुरिन्द्रिय की देवता सूर्य है, रसनेन्द्रिय की देवता वरुण है, घ्राणेन्द्रिय की देवता दोनों अश्विनी कुमार है, वागिन्द्रिय की देवता अग्नि है, पाणीन्द्रिय की देवता ँन्द्र है, पादेन्द्रिय की देवता उपेन्द्र है ॥ १०६ ॥ गुदेन्द्रिय की देवता मृत्यु है, उपस्थेन्द्रिय की देवता शिव है । रसना और उपस्थादिक में द्विविध शक्ति निहित रडने से उनके प्रत्येक के दो-दो देवता हैं । रसना, वरुण और अग्नि की पीठरूपिणी है ॥ १०७ - १०८ ॥

हे मडर्षियों ! उपस्थ और योनि में शिव, वायु और प्रजापति का पीठ विद्यमान है, ँसी कारण सृष्टि कार्य में लिंग और योनि की डी प्रधानता है ॥ १०९ - ११० ॥ मन की देवता चंद्रमा, बुद्धि की देवता यतुर्वक, अडंकार की देवता रुद्र और चित्त की देवता क्षेत्रज्ञ है ॥ १११ ॥ हे विज्ञो ! यडों में अंतःकरण के विषय में कुष्ठ उपनिषद् का ज्ञान आप से कडता हूँ, दत्तचित्त होकर सुनो ॥ ११२ ॥ मन, बुद्धि, अडंकार और चित्त, ँन यारों को अंतःकरण समजना चाडिये ॥ ११३ ॥ डेवल ब्रह्मा डी ँस अंतःकरणयतुष्टय के अधिदैव हैं और ँसी कारण वे संसार में यतुर्वक कडे जाते हैं । यडों यारों में बुद्धि का प्राधान्य डी कारण जानो ॥ ११४ - ११५ ॥ मायारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को, विज्ञलोग ँश्वर कडेते हैं और अविद्यारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म ज्व कडा जाता है ॥ ११६ ॥ हे ब्राह्मणों ! वेद में वर्णित ँन अविद्या और माया में, आकाश-पाताल के समान सदा भेद प्रतीत डोता है ॥ ११७ ॥ उन दोनों का पार्थक्य-संबंधी विज्ञान यडों आप लोगों से कडता हूँ । अविद्या ज्वों को सदा अपने अधीन करती डुड अपने में उनको बांधकर डंसा लेती है डित्तु, मडामाया, विद्यास्वरूपिणी होकर सर्वदा ँश्वर के अधीन रडती डुड और उनकी डी सेवा करती डुड, जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करती रडती है, ँसीविअे ँन दोनों में बड्ा अंतर है ॥ ११८ - १२० ॥ “मेरा शरीर है, मेरे प्राण हैं, मेरा मन है, मेरी बुद्धि है, और मेरा ज्ञान है” ँस प्रकार से पृथक् पृथक् रूपों से पांयों डोशों की प्रतीति डोती है ॥ १२१ ॥ हे विप्रो ! “डमारे”, ँस प्रकार जाने डुअे अलंकार और धर आदि, अपने से जिस प्रकार भिन्न डोते हैं वैसे डी पंचडोश, “डमारे हैं” ँस प्रकार जानने

के कारण, वे आत्मा कभी नहीं हो सकते हैं । अर्थात् पंचकोश आत्मा नहीं हैं, किंतु पंचकोशों के जाननेवाले निश्चय ही आत्मा हैं ॥ १२२ - १२३ ॥ धसी रीति से ही वे विप्रो, स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, कारण-शरीर, जगदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति, पूर्वोक्त चौबीस तत्त्व, ज्ञव और ईश्वर, ये कभी आत्मा नहीं हो सकते हैं ॥ १२४ - १२५ ॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान की सहायता से, आप लोग नेति-नेति विचारद्वारा, सब स्थूल को छोड़ते छोड़ते, सूक्ष्म अन्वेषण में तत्पर और निरासक्त होकर, सर्वदा तत्वातीत पद में स्थित होकर, मेरे दर्शन को प्राप्त कर सकोगे ॥ १२६ - १२७ ॥ मैं पंचकोशों से परे और सब तत्त्वों से अतीत सच्चिदानंद स्वरूप हूँ, यह निश्चय करके जानना ॥ १२८ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीशगीतोपनिषद् में ब्रह्मविद्यासंबन्धी योग शास्त्र का धीशर्षिसंवादात्मक वेदांतनिर्णयनाम का पंचम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ॥

६. वेदांतनिर्णय

गणपति बोले ॥ १ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरी प्रकृति से ही उत्पन्न ब्रह्म का स्वरूप मैंने वर्णन किया है और आप लोगों ने सुना भी है ॥ २ ॥ यतुर्विंशति तत्त्वों से ही ब्रह्मांडपिंडात्मक ये सब यथायथ दृश्यमान हैं ॥ ३ ॥ और हे महर्षिगण ! पंचकोष सर्व व्याप्त होकर मेरे स्वरूप को निःसंदेह ढके हुए हैं ॥ ४ ॥ परंतु तत्त्वज्ञानी सब पिंडों में पंचकोष का समन्वय जानकर सब स्थानों में मेरी शक्ति की अद्वैतता अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥ हे विप्रो ! मेरी प्रकृति ही माया नाम से अभिहित होती है । हे विप्रो ! यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति सदा परिणामिनी होती हुई दृश्य जगत्समूह पिंडों की सृष्टि, स्थिति और लय करती रहती है । हे विप्रवरो ! सृष्टि करते समय उस प्रकृति से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है इसमें संदेह नहीं ॥ ६ - ८ ॥ और इन पांच तत्त्वों में से आकाश के ही सात्त्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ वायु के सात्त्विक अंश से त्वगिन्द्रिय, अग्नि के सात्त्विक अंश से यक्षुरिन्द्रिय, जल के सात्त्विक अंश से रसनेन्द्रिय निःसंदेह उत्पन्न होता है ॥ १० ॥ हे ब्राह्मणों ! पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होता है । इन पांचों तत्त्वों के समष्टि (मिले हुए) सात्त्विक-अंश से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार उत्पन्न होते हैं । हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! सकल्प-विकल्प करनेवाला मन है, अहंकार करनेवाला अहंकार है, निश्चय करनेवाली बुद्धि है, स्मरण करनेवाला चित्त है क्योंकि यह सब संस्कारों का आकर है ॥ ११ - १३ ॥

धनी पांचों तत्त्वों में से आकाश के राजस अंश से पादेन्द्रिय, जल के राजस अंश से उपस्थेन्द्रिय और पृथिवी के राजस अंश से गुदेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं । इन पंच-तत्त्वों के समष्टि-राजस-अंश से प्राणादि पांच वायु उत्पन्न होते हैं । उपवायु, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय उक्त पांच वायुओं के अंतर्गत ही हैं । इन पांचों तत्त्वों के समष्टि-तामस-अंश से पंचीकृत पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । हे ब्राह्मणों ! सूक्ष्मरज्य स्थूल इन्द्रियों से सदा अगोचर है ॥ १४ - १६ ॥ क्योंकि स्थूल जगत् पंचीकृत पंचमहाभूत से उत्पन्न है । हे ब्राह्मणों ! सूक्ष्म

पंच मडाभूतों से पंचीकृत स्थूल पंचमडाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं उसका प्रकार मैं कइता हूँ, समाहित होकर सुनो ॥ २० - २१ ॥ हे विज्ञाब्राह्मणोत्तमो ! इन पांचों मडाभूतों के तामसांश-स्वरूप अेक अेक भूत के दो दो भाग करके और अेक अेक भाग को पृथक् रणकर दूसरे दूसरे भाग के यार यार भाग करके पृथक् रकभे ढुअे भागों में अेक अेक भाग प्रत्येक भूत का संयुक्त करने से निश्चय पंचीकरण होता है । यह पंचीकरण विधि अत्यंत अद्भुत है ॥ २२ - २५ ॥

प्रत्येक भूत के अपने आधे में प्रत्येक दूसरे भूतों के आधे भाग का यतुर्थांश मिला ढुआ रहता है इसमें संहिड नहीं ॥ २६ ॥ हे मडर्षियों ! जैसे पंचीकृत आकाश में अपंचीकृत आकाश का आधा भाग और दूसरे प्रत्येक अपंचीकृतभूतों के अर्द्ध भाग का यतुर्थांश, अर्थात् अपर प्रत्येक भूतों का अष्टमांश मिला ढुआ है इसमें संहिड नहीं, इसी प्रकार, प्रत्येक भूत में मिश्रण जानना याडिये ॥ २७ - २८ ॥ इन पंचीकृत पंच मडाभूतों से डी प्रत्येक स्थूल ब्रह्मांड निरंतर उत्पन्न होता है इस में संहिड नहीं ॥ २९ ॥ प्रत्येक ब्रह्मांड भी ऒध्वाधोऽरूप से नानाश्चर्यमय यतुर्दश भुवनों में विभक्त है ॥ ३० ॥ उन प्रत्येक ब्रह्मांडों में ऒट्मिज्ज, स्वेदज्ज, अंडज्ज और जरायुज्ज ये यार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥ हे विप्र श्रेष्ठो ! इनके अतिरिक्त ढैवी सृष्टि डी उत्तम विचित्रता इनसे कुछ विलक्षण डी है ॥ ३२ ॥ शरीरों का अभिमान रणनेवाले ञुव और अनंत ब्रह्मांडों के अभिमान रणनेवाले डी ऒश्वर हैं ॥ ३३ ॥ हे मडर्षिण ! इस प्रकार से पिंड और ब्रह्मांड डी अेकता प्रतिपन्न ढुछ, हे विप्रवरों ! आप लोग इसमें विस्मय न करें ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मणों ! ब्रह्म में डी अविधा और मायाऽरूप आवरण के द्वारा ञुव और ऒश्वर का भेद कल्पना डिया गया है ॥ ३५ ॥ शरीर का अभिमान रणनेवाला ञुव, ब्रह्म का प्रतिबिंब है, वड ञुव स्वभाव से डी ऒश्वर को अपने से भिन्न समजता है ॥ ३६ ॥ हे विप्रो ! ऒपाधि के भेद से ञुव और ऒश्वर में भेददृष्टि जब तक रहती है तब तक जन्म-मरण-प्रवाडऽरूप यह संसार कभी भी निवृत्त नहीं होता है । इस कारण हे द्विजश्रेष्ठो ! ञुव और ऒश्वर में भेददृष्टि तत्त्वज्ञ आत्मज्ञानियों को कडापि नहीं करनी याडिअे । हे मडर्षियों ! इससे उनका अवश्य मंगल होता है ॥ ३७ - ३८ ॥ हे विज्ञो ! अडंकारवान्-अल्पज्ञञुव और निरडंकार-सर्वज्ञ ऒश्वर, इन दो विरुद्ध धर्मों डी, “तत्त्वमसि” आदि मडावाक्यों के द्वारा, अभेदबुद्धि कैसे हो सकती है, अैसी शंका करो तो सुनो ॥ ४० - ४१ ॥

हे विज्ञा विप्रवरों ! “तत्” और “त्वं” इन दोनों पदों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थरूप दो दो अर्थ होते हैं इसमें संहिड नहीं ॥ ४२ ॥ अविधा, उसका कार्य, और कर्तृत्वादि-गुणयुक्त-शरीर का अभिमानी ञुव, यडी “त्वम्” पद का वाच्यार्थ है ॥ ४३ ॥ हे प्रतिभाशालियों ! अविधाऽरूप ऒपाधि से निर्मुक्त, समाधि-दशा-प्राप्त, अविधा और उसके कार्य से रहित, चिन्मात्र और शुद्ध चैतन्य डी “त्वम्” पद का लक्ष्यार्थ है । अब “तत्” पद का भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ कइता हूँ ॥ ४४ - ४५ ॥ माया और उसका कार्य, अेवं सर्वज्ञत्व आदि गुणोंवाला ऒश्वर, “तत्” पद का वाच्य-अर्थ है, इसमें संहिड नहीं ॥ ४६ ॥ मायाऽरूप ऒपाधि से शून्य, शुद्ध चैतन्य, माया और उसके कार्य से रहित, और चिन्मात्र डी “तत्” पद का लक्ष्य-अर्थ है ॥ ४७ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! इस प्रकार से ञुव और ऒश्वर में चैतन्यरूप से अभेद ऒने में कोछ बाधा नहीं है ॥ ४८ ॥ हे विप्रो ! उन दोनों डी अेकता “अडं ब्रह्माडस्मि” ऒत्यादि मडावाक्यों से भी जानी जाती है इसमें संहिड नहीं ॥ ४९ ॥ हे विज्ञा विप्रवरों ! ञो सुसाधक “ब्रह्म

सत्य है, जगत मिथ्या है और जो केवल ब्रह्म ही है” ऐसा, शास्त्रोपदेश से, श्रीगुरुपदेश से, और अपने अनुभव से जानता है એવં जिसकी सब प्राणिमात्रों पर ज्ञान-योग से सर्वथा ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हुई है, वही मेरा ज्ञानी भक्त, जोवन् मुक्त है ॥ ५० - पर ॥ इस वेदांत के सिद्धांत का तात्पर्य सुनो । जब अविद्यारूप उपाधिब्रह्म दूर हो जायेगा, तो ब्रह्मसत्ता ही लक्ष्यार्थरूप से अवशेष रहेगी । उसी प्रकार जब मायारूप उपाधि का भ्रष्टत्व तत्त्वज्ञान के द्वारा ज्ञात होगा, तब भी लक्ष्यार्थरूप ब्रह्म ही अवशेष रह जायेगा । इस प्रकार से तत्त्वज्ञानी-जोवन्-मुक्त-महात्मा, जो और ईश्वर की अभेद सत्ता अनुभव करके, ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हुएो कृतकृत्य होते हैं ॥ ५३ - ५६ ॥

इस संसार को जड-जोवगाए, विषय के रूप में देखते हैं, और अज्ञानी जोव-गाए सुभरूप से देखते हैं ॥ ५७ ॥ ज्ञानवान् विवेकी जन संपूर्ण संसारप्रपंच को परिणामी जानकर, दुःखमय रूप में अनुभव करते हैं ॥ ५८ ॥ परंतु मेरे ज्ञानीभक्त जोवन्-मुक्तगाए, इस संसार को कुछ और ही अलौकिक रूप में देखते हैं ॥ ५९ ॥ हे विप्रवररो ! वे मेरी प्रकृति-प्रसूत, सर्वथा अद्भुत, इस संसार को आकाश में गंधर्वनगर के समान बार बार देखकर और उसके स्वरूप को मिथ्या ही जानते हुएो भी उस कौतुकप्रदरूप को देख देखकर आनंदित होते हैं ॥ ६० - ६१ ॥ वे इस संसार को मृगमरीचिकावत्, (mirage) अनेक भ्रमयुक्त, धन्धलवत्, मिथ्या प्रपंचों का मूल और मेरी शक्ति के ही गुणों का परिणाम स्वरूप देखकर, उसमें डूंसते नहीं । वे इस प्रपंच में रहकर भी जल में पद्मपत्र के समान उससे अलग ही रहते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणों को यही सर्वत्र सुभप्रद, छितकर, उख्यपद लक्ष्यरूप होना याडिये । उनके लिखे ये सब संसार परिवार के समान है ॥ ६२ - ६५ ॥ देवता, ऋषि और पितृगाए उनके लिखे बांधव हैं । उनके लिखे इस संसार में गृहणीय भी कुछ नहीं है, और त्याज्य भी कुछ नहीं है ॥ ६६ ॥ वे स्थूल शरीर से माता, पिता, कुल, जाति और समस्त पृथिवी को, और विशेषतः जन्म-भूमि को धन्य करते हैं ॥ ६७ ॥ हे विप्रो ! वे सूक्ष्मशरीर से सूक्ष्म-देवी जगत् को सब प्रकार से सर्वदा धन्य कडते हैं इसमें सदेह नहीं ॥ ६८ ॥ और ब्रह्मानंद सुसंदोह के सम्यक् विलास स्वरूप से निःसदेह मुजे धन्य धन्य करते हैं ॥ ६९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् में ब्रह्मविद्यासंबंधी योग-शास्त्र का धीशर्षिसंवादात्मक वेदांत-सिद्धांत निरूपण नाम का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

७. विराट्स्वरूपवर्णन

ऋषिगाए बोले ॥ १ ॥ हे प्रभो ! हे भगवन् ! हे सर्वज्ञ ! हे ध्याएव ! हे विश्वेश ! हे देवादिदेव । हे जगन्निवास ! हे सब गुरुओं के आदिगुरु ! हे विश्वंभर ! हे विभो ! आपकी अपार कृपा से आज हमारा अंतर्नरूपी ज्ञाननेत्र, जो श्रेष्ठ निर्मल तृतीय नेत्र है, निश्चय ही फुल गया है ॥ २ ॥ आपकी कृपा के उदय से अब हम देखते हैं कि आप जैसे माता में मणिगाए के भीय पिरोया हुआ सूत्र रहता है उसी प्रकार सब पिंओं और सब ब्रह्मांडों में अकरूप से सदा अनुस्यूत रहकर सबके अस्तित्व और सबके चैतन्य का संपूर्ण विधान निरंतर करते हैं ॥ ३ ॥ पुनः हे अनंत ! जिस प्रकार घर में छिद्ररूपमार्ग से प्रविष्ट सूर्यकिरणों में तैरते हुएो अपरिमित अणुसमूहों को हम देखते

हैं, उस प्रकार आदि-अंत-रहित मलाकाश में अनंत ब्रह्मांड समूह, आपके विराट् देह का आश्रय लेकर तैर रहे हैं और शोभा को निश्चय ही बढ़ा रहे हैं ॥ ४ ॥

उम पुनः देह रहे हैं कि आप का विराट् रूप जहाँ इस समय प्रकाशित हो रहा है उस देश की दिशाओं का न आदि और न अनंत दिखाई देता है । हे मलाकाश ! उम पुनः आप के विराट् देह में मलाकौतुक देह रहे हैं । आप के उस विराट् रूप में अनंत सूर्य और अनंत ग्रहों-उपग्रहों द्वारा परिव्याप्त, अनंत ब्रह्मांडसमूह आपस के घात-प्रतिघात से परमाणुसुप्तों में परिणत हो रहे हैं । और हे प्रभो ! कहीं, सब परमाणुसुप्त सम्यक् रूप से पुनः धनीभूत होकर नक्षत्रसमूह और सूर्यादि अभिल ग्रहोंपत्रहों से आवृत्त अनेक प्रकार के और अनेक आकृतिवाले ब्रह्मांडसुप्तों में अनुक्षाल परिणत हो रहे हैं । परंतु हे प्रभो ! इन ब्रह्मांडसमूहों की उत्पत्ति और लय का कार्य जिस काल में प्रतिभासित होता है उस काल का किसी प्रकार भी न आदि और न अंत दिखाई पड़ता है ॥ ५ - ७ ॥ आप के वैराट्य से ओतप्रोत उस देश और काल का जब न आदि है और न अंत, तब आप के विराट् स्वरूप और असीम देह का आदि और अंत, निःशेषरूप से कोई देहने में कैसे समर्थ हो सकता है ? और उम जैसे भूर्भो की तो बात ही क्या है ॥ ८ ॥ हे सदा भूतस्रष्टा ! पालक ! भूतहारी विभो ! उम सब यहाँ द्विर भी यह देहते हैं कि अनंत ब्रह्मांडसमूह पृथक् पृथक् रूप में आप की प्रकृति से, कर्मस्रोत में, अपने आपकी प्रकट होकर अपने आप ही आपकी प्रकृति में सद्यः प्रवेश करके बारबार लय को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥ उसी कर्मस्रोत में अपने आप ही प्रत्येक परमाणु से भूतभावोद्भवकर विसर्ग द्वारा आपको ही प्रकृति से विजृम्भितरूपी अनंत पिंड प्रकट होते हैं और दूसरी ओर अपने आपकी आपकी प्रकृति में प्रवेश करके लय को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ हे विश्वयक्षु ! उम लोका पुनः देहते हैं कि आप अनंत नेत्र होकर पिंडसमूह और ब्रह्मांडसमूह की गति को निरंतर देहते हो और अपनी धर्मशक्ति के द्वारा क्रमशः उनको अपनी ओर आकर्षित करते जाते हो । इस प्रकार के सब यमढारों को देहकर उमारी बुद्धि यदित हो रही है ॥ ११ ॥ हे विश्वयेता ! उसी प्रकार उम यह भी देहते हैं, कि आप अनंतकार्ण होकर सब अनंत ब्रह्मांड और अनंत पिंडों की प्रार्थना निरंतर श्रवण करते हैं और चितिशक्ति द्वारा क्रमशः उत्तरोत्तर येतनायुक्त करते हुए उनको आप अपना सान्निध्य देते हुए विराजमान हैं ॥ १२ ॥ हे रसमय ! उम पुनः देहते हैं कि आप अनंत रसनायुक्त होकर ब्रह्मांडसमूह और अनंत पिंडसमूह में बुद्धिरूप से सुलुद्भूतव में रहकर सब प्राणियों को अपने कृपाकण से विवेकपूर्वक परमानंदमय अध्यात्मपद दिखा देते हो ॥ १३ ॥ हे सकल तेजों के भनिरूप तेजोमय ! उम पुनः देहते हैं कि आप अनंत स्पर्शेन्द्रियसमूह से युक्त होकर अगाणित और अनंत ब्रह्मांडों और पिंडसमूहों को अपने तेजों के द्वारा स्पर्श करके सबको अपनी ओर निरंतर भींचकर उनका पतन होने नहीं देते ॥ १४ ॥

हे विश्वाधार ! उम पुनः देहते हैं कि आप अनंत नासिकायुक्त होकर ब्रह्मांड और पिंडसमूह के पुण्यसुप्त का शुभ आघ्राण ग्रहण करके उनके अस्तित्व को अपने में ही विलीन करने के लिये उनको उनके यथायोग्य अधिकार के अनुसार अब्युद्य और निःश्रेयस निरंतर प्रदान करते रहते हो ॥ १५ ॥ हे त्रिगुणातीत ! हे सदा भावातीत ! हे विभो ! हे प्रभो ! अनुक्षाल इससे पूर्व जब उम दर्शनेन्द्रियों को तृप्त करने वाले आपके निर्मल और सर्व-मनोहर गुणामय और भावमय अलौकिक रूप के दर्शन करते थे तब उमारा मन शीघ्र लयावस्था को प्राप्त हो गया था ॥

१६ ॥ अब तो आपके इस विशाल विराट्स्वरूप का दर्शन करके हम लोगों की बुद्धि भी थकित और थकित होकर लयावस्था को प्राप्त हो रही है । अब कृपा करके आप जैसे अपने रूप में हमें दर्शन दें कि जिस के अवलम्बन से हम हर समय आपके सान्निध्य को भी प्राप्त कर सकें ॥ १७ ॥ हे सर्वेश्वर ! हे भक्तवांछा कल्पतरु ! हे प्रभो ! हे पालक ! आप उपरहित और विभु होने पर भी अपने भक्तों के कल्याण के लिये उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति जनित प्रार्थना को स्वीकार करते ही नाना सगुणरूप धारण करते उनका कल्याण साधन करते हैं ॥ १८ ॥ हे सवितः आप ही सूर्य-रूप धारण करते तेज द्वारा भक्तों को कैवल्य भूमि में निरंतर आकर्षित करते हैं । हे नारायण ! आप विष्णु-रूप धारण करते सिद्धिभाव द्वारा उनकी कर्मोन्नति का पर्यवेक्षण करते उनको ब्रह्मसद्भाव प्राप्त कराते हो ॥ १३ ॥ हे शक्तिमन् ! आप ही देवीरूप धारण करते धर्मशक्ति द्वारा सबके नियामक परमपद में सदा उनको पहुँचा देते हैं । हे शम्भो ! आप ही शिवरूप धारण करते सद्भाव द्वारा सबके अस्तित्वविधानकारी निर्भय निःश्रेयस पद में अपने भक्तों को अवश्य पहुँचा देते हैं ॥ २० ॥ और हे सिद्धिपते ! आप ही गणपति का स्वरूप धारण करते बुद्धि द्वारा भक्तों को स्वरूप टिप्पणकर निरंतर परममुक्तिपद प्रदान करते हैं । हे गुरो ! इस संसार में आपही सब गुरुओं के आदिगुरु हैं क्योंकि आप सकल देशकाल से निरंतर अपरिच्छिन्न और सर्वादिगुरु होकर ज्ञानस्वरूप में सदा विराजमान रहते हैं और सब ब्रह्मांडों में हम ऋषिगण आपके ही ज्ञानसागर की विप्रुटकणिका को (अर्थात् छिड्के लुभे छींटों को) लेकर अपने ज्ञान-स्रोतों को, इस विश्व में प्रवाहित करते हैं । इसमें विद्वान् ब्राह्मणगण स्नान करके ही मुक्ति को प्राप्त लुभे हैं ॥ २१ - २२ ॥

हे देवनायक विभो ! सृष्टि, स्थिति और प्रलय कारिणी विश्वव्यापक कर्म की धारा आपसे उत्पन्न होकर आप में ही विलीन होती है और सब देवतागण सदा आपके ही अंगरूप होकर प्रत्येक ब्रह्मांड में प्रसन्नता से कर्म की व्यवस्था अर्द्धनिश करते लुभे सृष्टि, स्थिति और लय की व्यवस्था का सामंजस्य विधान करते हैं । हे प्रजापते ! उद्भिज्ज, स्वदेज, अंज और जरायुजसमूह रूपी जो यतुर्विधभूतसंघ हैं वे सब, और जो देवी, मानवी और आसुरीरूपी त्रिविध-लोक-सृष्टियां हैं वे सब, महासमुद्र में बुद्बुद्धत्, आपसे ही यहाँ उत्पन्न होकर आप में ही लय को प्राप्त होते हैं । पितृगण आपसे ही अतुल शक्ति को लेकर मनुष्य की कर्मोन्नति-विधान करके यतुर्विध-भूतसंघ और लोकसमूह की व्यवस्था में भलीभांति सहायता करते हैं ॥ २६ - २७ ॥ हे धीश ! यद्यपि यतुर्विधशक्ति तत्त्व से भी अतीत-विभव आप ही हो तथापि अंतिम-तत्त्व-आप, बुद्धि में ज्ञानशक्तिरूप से अधिकारी, अनिर्वचनीय और नित्य-स्थित रहकर श्रवमात्र को अभ्युद्य और निःश्रेयस का मार्ग प्रदर्शित कराते हो ॥ २६ ॥ स्वाधीनता के मद्द से विमोहित जो मूढः श्रव प्रमादवश, ज्ञाननिधि-आप के उगित कीये मार्ग की नित्य अवलंबना करते हैं वे अवश्य कल्याणकारी अभ्युद्य के मार्ग से व्युत्त होकर ही दुःखदायी जन्ममृत्युओं के गडन संसारचक्र में अतिशय घूर्णायमान होकर दुःख भोगते रहते हैं ॥ २७ ॥ हे दयासागर ! हे सिद्धि देवी से अवंकृत वामपार्श्व भगवन् गणपते ! आप का ही जो इस संसार में जगत्पूज्य भर्ग (अर्थात् तेज) है, वह हमारी बुद्धि को अपनी शक्ति के द्वारा असत्-कर्मसमूह से बचाकर सत्कर्म में शीघ्र प्रेरणा करे । आप को हम अनन्यभाव से प्रणाम करते हैं ॥ २८ ॥ व्यासदेव भोले ॥ २८ ॥ एतना कडकर वे ऋषिगण कुछ देर तक आनंदाश्रुयुक्तमुग्ध, गद्-गद्कण्ठ-स्वर, रोमांचित और निःस्तब्ध होकर रहे । तदनंतर भगवान् गणपतिशु ने स्मितकर (अर्थात् मुस्कराकर) मधुर स्वर

से कडा ॥ ३० ॥ गणपति बोले ॥ ३१ ॥

डे भक्त द्विजगण ! योग-युक्त अवस्था में मेरा सगुणरूप, आत्मयुक्त अवस्था में मेरा महदद्भुत विराटरूप और कर्म युक्त अवस्था में मेरा विभूतिमयरूप मेरी उपासना में सहायक होता है । यही श्रुति है ॥ ३२ - ३३ ॥ ज्ञान प्राकृत और स्वाधीनरूप से दो प्रकार का कडा गया है । प्राकृत ज्ञानों में मैं हस्ती हूँ, और स्वाधीन ज्ञानों में मैं मनुष्य हूँ ॥ ३४ ॥ इसी कारण हस्ती के सदृश भुज और मनुष्य के सदृश शरीर लेकर मैं भक्तों को निरंतर प्रकट लेकर अपना दर्शन देता हूँ । मैं योग में राजयोग हूँ परंतु डे द्विजश्रेष्ठों ! ऐसा लेकर भी मैं यतुर्विध ध्यानों में से पंचोपासना के पाँच ध्यान-युक्त स्थूल ध्यान ही हूँ इसमें कुछ सँदह नहीं है । मैं आप लोगों से सत्य कलता हूँ ॥ ३६ - ३७ ॥ नरों में मैं राजा हूँ परंतु राज्य में मैं मंत्री-रूप हूँ क्योंकि मन्त्रि-मंडल ज्ञान सहायक है ॥ ३८ ॥ शक्तियों में मैं दैवी शक्ति हूँ परंतु ऐसा लेकर भी डे महर्षियों ! मैं लौकिक शक्तियों में संघ-शक्ति हूँ क्योंकि संघ-शक्ति में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों शक्तियों का विकास अपने-आप ही हो जाता है ॥ ४० ॥ मैं वार्यों में ब्राह्मण हूँ और आश्रमों में सन्यासाश्रम हूँ । डे ब्राह्मणों ! वृद्धत्व-रूप से पूजनीय सब प्रकार के वृद्धों में मैं सर्वथा ज्ञानवृद्ध ही हूँ, इसमें कुछ विचार न करो और मनुष्यश्रेणी में मैं अध्यात्म लक्ष्य-युक्त आर्य हूँ ॥ ४१ - ४२ ॥ भक्तगणों में मैं ज्ञानीभक्त हूँ । वेदों के भीय मैं सामवेद हूँ किंतु वेदविभागों में मैं उपनिषद्रूप हूँ ॥ ४३ ॥

योग के अंगों में मैं प्रत्याहार हूँ परंतु सब समाधियों में मैं निर्विकल्प समाधि हूँ ॥ ४४ ॥ डे ब्राह्मणों ! मंत्रयोग में मैं मंत्र हूँ, उद्योग में मैं प्राणायाम हूँ, लययोग में मैं लयक्रिया हूँ और राजयोग में मैं विवेचन हूँ ॥ ४५ ॥ डे ब्राह्मणों ! दानधर्म में मैं ब्रह्मदान हूँ, तपधर्म में मैं यम (अर्थात् अष्टांग-योग का प्रथम चरण : यम, नियम, आसन, ध्यानादि) हूँ, कर्मयोग में मैं ज्ञानप्रकाश होने से नित्य कर्म ही हूँ इसमें कोई विवेचना नहीं है । डे विज्ञान ब्राह्मण-श्रेष्ठों । उपासना यज्ञों में मैं पराभक्तियुक्त ब्रह्मोपासना हूँ, ज्ञानयज्ञ में मैं मनन हूँ और डे विप्रों ! महायज्ञों में मैं सर्व-यज्ञ-शिरोमणि ब्रह्मयज्ञ हूँ । सभा के भीय मैं मैं वक्ता हूँ और शिक्षकों के भीय मैं मैं आचार्य हूँ ॥ ४६ - ४८ ॥ उपदेशकों के भीय मैं मैं जगत्-पूज्य गुरु हूँ । डे विप्रों ! भूतगणों के अंतर में अवस्थित मैं आत्मा हूँ ॥ ५० ॥ सर्व प्राणियों में मैं ही निःसँदह चेतना रूप हूँ । मैं ही शब्दसमूह में नाद और वाक्यसमूह में ओंकार हूँ ॥ ५१ ॥


मैं देवताओं में इन्द्र, महर्षियों में भृगु, पितरों में अर्यमा और नियामकों में यम हूँ ॥ ५२ ॥ असुरों में मुञ्जको बलि जानो । मैं सरिताओं में जाह्नवी और सब जलाशयों में निःसँदह सागर हूँ ॥ ५३ ॥ डे महर्षिगण, आनंदप्रद पदार्थों में मैं पुष्य हूँ । डे विप्रों ! तेजस्वियों में मैं परम पवित्र तेजरूप हूँ ॥ ५४ ॥ बलवानों में मैं काम-राग-विवर्जित बल हूँ और उत्पत्ति के लिअे प्राणियों में मैं धर्म-अविरुद्ध काम हूँ ॥ ५५ ॥ डे विद्वान् विप्रवरों ! मैं विद्यासमूहों में अध्यात्मविद्या हूँ और वादिगण में मैं सत्यप्रकाश वाद हूँ ॥ ५६ ॥ स्त्रियों में मैं तपोरूप हूँ और पुरुषों में यज्ञरूप हूँ । डे विप्रों ! मैं त्रिगुण में सत्त्वगुण हूँ ॥ ५७ ॥ त्रिभावों में मैं अध्यात्मभाव हूँ । मैं शील में विनय और सदाचारों में वृद्धों के चरणकमलों में प्रणामरूप हूँ ॥ ५८ ॥ डे महाविज्ञ ब्राह्मणों ! मैं कारणब्रह्मरूप से अेक अद्वितीय लेकर भी अनंत हूँ यड सत्य डे इसमें सँदह नहीं ॥ ५९ ॥ कार्यब्रह्मरूप से


संख्या में अनंत होने के कारण मेरी विभूतियों की कोई भी संख्या नहीं कर सकता ॥ ६० ॥ डेवल आप विप्रवरों के कल्याणार्थ ही दिग्दर्शनरूप से आप लोगों से यह कुछ वर्णन किया है ॥ ६१ ॥ आप मेरे वृद्धयग्राही उपदेश को अपने वृद्धय में निरंतर रभकर मेरी उपासना में रत होकर उत्तम भोक्षपद को प्राप्त हों ॥ ६२ ॥ हे विप्रो ! मेरी प्रकृति पर आपकी सात्त्विक श्रद्धा शिरकाल तक बनी रहे । मेरी प्रकृति ही स्त्रीभाव को धारण करके कामदा, भगिनीभाव को धारण करके अर्थ और सिद्धिप्रदा और मातृभाव धारण करके सदा धर्म और शक्तिप्रदा होकर मेरे ज्ञानी-भक्तों को सब ओर से प्रकृतिस्थ करती हुई उनको सुदुर्लभ मुक्तिपद प्रदान करती है ॥ ६३ - ६४ ॥ मेरी शक्ति पर श्रद्धान्वित भक्तों को यतुर्वर्ग सुलभ हो जाता है हे विप्रवरों ! इसमें सदेह नहीं है ॥ ६६ ॥ यह मैंने अति गोपनीय उपनिषद् आप लोगों को सुनाया है । आप इसको धीशगीता नाम से प्रचारित करो ॥ ६७ ॥ जिससे मेरे सर्व भक्त यतुर्वर्ग प्राप्त करें । हे विप्रवरों ! अभक्त, नास्तिक, श्रद्धाहीन, गुरु-विरोधी, कृतघ्न और पापात्मा व्यक्तियों को इसको कदापि नहीं देना ॥ ६८ - ६९ ॥ गुरु और शास्त्रों में जिनकी श्रद्धा है, परम-लोकपर जिनका विश्वास है, जिनका लक्ष्य आध्यात्मिक है और जिनमें पवित्र मत्परायणता निरंतर है, उनको यह धीशगीता अवश्य देनी चाहिये ॥ ७० - ७१ ॥ इस पवित्र धीशगीता का जो अध्ययन और अध्यापन करते हैं, स्वेश कर्मविपाक और आशय से रहित होकर वे मेरे सब भक्त मत्सायुज्य को अवश्य प्राप्त होते हैं । उनको इस संसार में किसी प्रकार भी कोई तप बाधा नहीं देता है ॥ ७२ - ७३ ॥ श्रद्धा के साथ इस कल्याण-कारिणी गीता का जो पाठ करते हैं, अथवा जो इससे द्वारा केवल पाठात्मक वा उवनात्मक गणपति-याग का अनुष्ठान करते हैं, मेरे उन भक्तों की सब आधि और व्याधियाँ नष्ट हो जाती है ॥ ७४ - ७५ ॥ हे द्विजों ! जो सदा भक्तिभाव से संयत और तप-परायण होकर भलीभांति इसका सार्थक पाठश्रवण अथवा इससे द्वारा गणपतियाग का अनुष्ठान करते हैं, उन ज्यों की जैसे कोई बाधाओं, विपत्तियों या विघ्नसमूह नहीं हैं, जो शीघ्र ही दूर न हो सकें, हे विप्रवरों ! इसमें कुछ सदेह नहीं है ॥ ७६ ७८ ॥

मेरे आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीनों ही प्रकार के भक्त इस गीता के आश्रय से निःसदेह ही सङ्गमनोरथ होंगे और उसी प्रकार मेरे ज्ञानीभक्त भी इस गीता के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा अपरोक्षानुभूति से मेरे दर्शन करने में अवश्य समर्थ होंगे ॥ ७९ - ८१ ॥ यारों वर्ण और यारों आश्रमों के स्वधर्मानुरत ज्यों की तो बात ही क्या है । मुझमें अटल श्रद्धा रभनेवाले जेवमात्र को ही यह धीशगीता यतुर्वर्गङ्गलप्रद है । यह सत्य है, इसमें सदेह नहीं ॥ ८२ - ८३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी धोशर्षिसंवादात्मक योग शास्त्र का विराट्स्वरूप निरूपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥

। यह श्रीधीशगीता समाप्त हुई ।

——
Shri Dhishagita Bhashanuvada Hindi Translation
pdf was typeset on December 3, 2022

——
Please send corrections to sanskrit@cheerful.com

